जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग २२ | जून १९५८ | किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये एम ए, डी लिट्

प्रोफेसर ज्योति प्रसाद जैन एम ए, एल एल बी

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस डी एल.

श्री पं० के भुजबली शास्त्री विद्याभूषण,

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न

जैन सिद्धान्त भवन आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | एक प्रति का १॥)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः



जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व और इतिहास विषयक षण्मासिक पत्र

भाग २१ } जून, १९५५ । ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४८१ { किरण १

हस्तिमल्ल के पूर्ववर्ती जैन संस्कृत नाटककार

[श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा]

जैन साहित्य बहुत ही विशाल एवं वैविध्यपूर्ण है। पर अभीतक उसकी पूरी जानकारी प्रकाश में नहीं आई। जो कुछ जानकारी प्रकाश में आई है, उससे भी समुचित लाभ नहीं उठाया जाता। साम्प्रदायिक भेद भाव के कारण जैनेतर विद्वानों की ही तो बात ही क्या जैन विद्वानों की भी आज स्थिति यह है कि श्वेताम्बर विद्वानों को दिगम्बर साहित्य का अधिक परिचय नहीं है और दिगम्बर विद्वानों को तो श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी और भी कम है। वास्तव में देखा जाय तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों का साहित्य एक दूसरे का पूरक है। बिना दोनों सम्प्रदायों के साहित्य की सम्मिलित जानकारी के जैन साहित्य की विशालता और महत्त्व ठीक से जाना ही नहीं जा सकता। अतः हमें अब प्रत्येक विषय पर लिखने से पूर्व दोनों सम्प्रदायों के साहित्य की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और तटस्थतापूर्वक दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों के ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन कर ज्ञान वृद्धि करते रहना चाहिए।

दिगम्बर साहित्य बहुत महत्त्व का होने पर भी उसकी पूरी जानकारी देनेवाला कोई भी "दि० साहित्य का इतिहास" प्रकाशित नहीं हुआ। अतः उसकी जानकारी प्राप्त करने में बड़ी ही असुविधा होती है पर श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी प्राप्त करने में वैसी कठिनाई नहीं है; क्योंकि जैन साहित्य महारथी स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने २५ वर्ष की निरन्तर साधना द्वारा ४ महान् ग्रन्थ प्रकाशित कर दिये हैं। जिनमें श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी बहुत अच्छे रूप में मिल जाती है। यद्यपि कोई भी साहित्य का इतिहास समूचे साहित्य की जानकारी नहीं दे सकता। क्योंकि प्रकाशित ग्रन्थों की अपेक्षा अप्रकाशित ग्रन्थ ही अधिक होते हैं और उनकी

प्रतियां जहाँ तहाँ इतने अधिक स्थानों और व्यक्तियों के पास फैली हुई होती हैं कि उन सबकी सूची बनाना भी कम ही संभव है। नित्य नये नये भण्डार जानने को मिलते हैं और उनमें प्राय: अज्ञात ग्रन्थ मिलते ही रहते हैं। इसलिए वैसे तो देसाई द्वारा संकलित चार ग्रन्थों में उल्लिखित रचनाओं की अपेक्षा श्वेताम्बर साहित्य बहुत अधिक विशाल है। फिर भी मुख्य-मुख्य भण्डारों की सूचियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं या बन चुकी हैं उनमें से जितने अधिक संग्रहालयों की सूचियों का उपयोग वे कर सकते थे या करना संभव हुआ, देसाई ने बहुत ही लगन, धैर्य, परिश्रम और प्रयत्नपूर्वक अधिक से अधिक जानकारी देने का भरसक प्रयत्न किया है। और जहाँ तक बन सका है प्रतियों को स्वयं देखकर जाँच पड़ताल कर और दूसरे प्रामाणिक उल्लेखों के उपयोग द्वारा अपने इन ग्रन्थों को भूल भ्रान्तियों से बहुत ही बचाया है। इसलिए उनकी शुद्धता व प्रामाणिकता बहुत अधिक है वैसे उसके बाद प्रोफेसर हरीदामोदर वेलनकर का 'जिन रत्नकोष' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (सूची) भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन, पूना से सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ और उसमें वेलनकर ने ७४ सूचियों एवं रिपोर्टों के आधार से अपने इस ग्रन्थ को तैयार किया है, इसमें भी श्वेताम्बर साहित्य का विवरण ही अधिक आ पाया है यद्यपि उन्होंने दिगम्बर ग्रन्थों की जानकारी देने का भी प्रयत्न किया है। पर वास्तव में दिगम्बर भण्डारों की सूचियाँ उन्हें बहुत ही कम प्राप्त हुई। अतः अधिक विवरण नहीं आ सका। जिन रत्नकोष रिपोर्टों व सूचियों के आधार से तैयार हुआ है स्वयं ग्रन्थ कम ही देखे गये हैं अतः उसमें भूल भ्रान्तियाँ काफी रह गई हैं।

देसाई के श्वेताम्बर साहित्य सम्बन्धी ४ ग्रन्थों को प्रत्येक जैन विद्वान को मंगाना और देखते रहना चाहिए। जैन रिफरेन्स (सन्दर्भ) ग्रन्थों में इनका स्थान बहुत ही ऊँचा व महत्व का है। इन ग्रन्थों के नाम हैं जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास और ८ ३-४ जैन गुर्जर कवियो भाग १-२-३। इनमें से पहला ग्रन्थ १२५० साढ़े बारहसौ पृष्ठों का है जिसका मूल्य केवल ६) रुपये है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और राजस्थानी, गुजराती के श्वेताम्बर जैन साहित्य का ही इतिहास नहीं पर इसमें श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के ढाई हजार वर्षों का संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया है। सन् १९३३ में यह प्रकाशित हुआ। लेखक के २०-२५ वर्ष के संशोधनों का यह नवनीत है। करीब १० वर्ष तो इस ग्रन्थ की तैयारी व लेखन में लगे हैं। इसमें लगभग ६० चित्र यथा स्थान दिये गये हैं और चित्रों का परिचय भी विस्तार से ६० पृष्ठों में दिया गया है। इस ग्रन्थ में ८ विभाग हैं और प्रत्येक विभाग के कई प्रकरण हैं। ११९५ पैराग्राफ हैं और ५७७ (फुटनोट) हैं जो ८३२ पृष्ठों में हैं। इसके बाद २३ परिशिष्टों के १८८ पृष्ठ केवल नामों की सूची के हैं इसीसे इस ग्रन्थ के निर्माण में कितना श्रम किया गया है और यह ग्रन्थ कितना महत्वपूर्ण है इसका अनुभव पाठक खुद करें, लेखक ने निवेदन के पृष्ठ

१६ में स्वयं ही मोहित लिखा है कि 'इस ग्रंथ के तैयार करने में मैंने रात दिन श्रम किया है और अपना आराम भी कोई भी कसर नहीं रखने दी है"। उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी, वे हाईकोर्ट के वकील थे इसीसे अपने परिवार का पालन करते थे फिर भी साहित्य का रस उन्हें इतना जबरदस्त लगा था कि रात को जब सारा परिवार सो जाता, वे जागृत होकर काम करने में जुट जाते और जहाँ तक नींद बेचैन न कर दे काम करते ही रहते। अपने व्यावहारिक कामों से तनिक भी अवकाश मिला कि लिखने पढ़ने में जुट गए। छुट्टियों के दिनों में वे अपने खर्च से कभी कभी कहीं जा कर आवश्यक सामग्री एकत्रित करते। प्रूफ देखने वाला तक भी उनका कोई सहायक नहीं था। उन्होंने लिखा है कि 'इसमें पारंभिक दिन रात श्रम लेनामां मैं कचास राखी न थी। समय मळे, पोताने खर्चे जुदे स्थले जई पुस्तक भण्डारो जोई, तेमांथी आवा तेमांथी मळेला समस्त साधनों ने प्राप्त करी संग्रह करी, तेमांथीनोंधी टांचणो करीलेवा, तेरस्था प्रमाणो आदि प्रकरणो लखवा, तथा आखलखा तेनांनु प्रूफ शोधन करी, तेने पाछा मगावि सुधारवा मेकवाँ, तेनी विस्तृत अनुक्रमणिका कर वेगेरे करवो पडे कोईनी पण मदद वगर एक अक्षरीन्द्र पैसानी पण मदद वगर करीने आ पुस्तक में गुजरात ने चरणे सादर धर्यु छु'।

उनका दूसरा ग्रन्थ विक्रम १३ वीं शताब्दी से २० वीं तकके श्वेताम्बर जैन कवियों और गद्य लेखकों के गुजराती, राजस्थानी व हिन्दी गद्यों का परिचय व विवरण है जैन गुर्जर कवियों नामक ३ भागों में ४००० पृष्ठों का है। ऐसे महान् साहित्य सेवी के सामने किसका सिर न झुकेगा। जिस काय के लिए बीसों विद्वान् और हजारों रुपये खर्च के चाहिए कि उसे एक विद्वान ने अपनी निरंतर की लगन और साधना से सम्पन्न कर दिया। यह कितने महान् गौरव की बात है। दूसरे विद्वानों को उनका अनुसरण करना चाहिये।

दिगम्बर साहित्य की जानकारी प्रकाश में लाने का कार्य कुछ वर्ष पूर्व वीर सेवा मंदिर ने प्रारम्भ किया था पर अब उसको नियमित व व्यवस्थित कराने का कार्य महावीर तीर्थ कमेटी जयपुर करवा रही है पर उसके पास भी कस्तूरचन्द कासलीवाल एक ही व्यक्ति है। काम की गुरुता को देखते हुए ५-१० विद्वान् इस काम के लिए नियुक्त किये जाने चाहिए, अन्यथा दिगम्बर जैन समाज व विद्वान् खूब ध्यान रखें कि दिगम्बर साहित्य का इतिहास जो लिखा जा रहा है वह बहुत ही अपूर्ण रहेगा। सैकड़ों महत्व के ग्रन्थ उसमें उल्लेखित नहीं हो सकेंगे। सबसे पहला काम समस्त दिगम्बर ग्रन्थ भण्डारों की सूची बनाने का है। बिना सूची बने साहित्य का इतिहास पूर्ण और अच्छे रूप में लिखा जा ही नहीं सकता।

अब मैं लेख के मूल विषय पर आता हूँ। वीरवाणी के १८ नवम्बर १९५९ के अंक में पंडित चैनसुखदासजी का सम्पादकीय अग्र लेख "महाकवि हस्तिमल्ल और उनका विक्रान्त कौरव नाटक" शीर्षक छपा है। उसके दूसरे पैराग्राफ में जैन संस्कृत नाटकों की कमी और हस्तिमल्ल

को पहला जैन नाटककार बतलाते हुए लिखा है "जैन कवियों ने भी संस्कृत भाषा में नाटकों की रचना की है। किन्तु महाकवि हस्तिमल्ल के पहले के किसी भी जैननाटककार का पता अभी तक नहीं चला। सभवत. ये पहले जैन कवि हैं जिन्होंने जैन साहित्य नाटकों पर अपनी कलम चलाई और सफल हुए। हाँ इनके कुछ पहले मोहगन पराजय नामक प्रतीक नाटक के लेखक कवि यशपाल अवश्य हो गये हैं। जैनों का अधिकांश संस्कृत साहित्य नष्ट कर दिया अथवा नष्ट हो गया है इसलिए आज हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि हस्तिमल्ल के अतिरिक्त भी कोई नाटककार हुए हैं या नहीं" ?

दि० नाटककार हस्तिमल्ल का समय विक्रम संवत् १३४७ के लगभग का बतलाया गया है। वास्तव में पंडित चैनसुखदासजी जैन संस्कृत साहित्य के बड़े ही प्रेमी विद्वान् हैं और साथ ही उनमें साम्प्रदायिक सकुचित वृत्ति न होकर उदार और विशाल भावना है इसलिए उन्होंने जो उपर्युक्त शब्द लिखे हैं वे किसी साम्प्रदायिक वृत्ति के कारण नहीं पर हमलोगों का सामाजिक और धार्मिक ढाँचा ही ऐसा है कि हम अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदाय के ग्रन्थों की जानकारी ही प्राय. नहीं रखते तो अध्ययन का तो अवकाश ही कहाँ ?

वास्तव में पंडित चैनसुखजी का उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर जैन संस्कृत नाटक ग्रन्थों की अजानकारी का द्योतक है। हस्तिमल्ल के पहले श्वेताम्बर विद्वानों ने करीब बीस नाटक बनाये जिनमें से १०-१२ तो आज भी प्राप्त हैं। उनका परिचय कराना ही इस लेख में अभीष्ट है।

राजस्थान और गुजरात में १२ वीं १३ वीं शताब्दी में देव मन्दिरों में देवों या मन्दिरों की वर्षगाँठ, वसंतोत्सव, यात्रा महोत्सव आदि प्रसंगों में नाटक खेलने का खूब प्रचार था। श्वेताम्बर जैन कवियों का प्राचीन रास, फागु, चार्चरी आदि अपभ्रंश और लोक भाषा की प्राचीन रचनाएँ प्रायः ऐसे प्रसंगों में नृत्य, अभिनय, गायन के लिए ही बनाई गयी थीं। संस्कृत भाषा का भी उन दिनों बहुत अच्छा प्रचार था। महाराजा भोज के शासन-प्रदेश और राज्यकाल के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि उस समय संस्कृत भाषा उन दिनों विद्वान् भोज ही नहीं, जन साधारण में भी प्रचलित थी। ऐसे समय के आसपास में उपर्युक्त माङ्गलिक उत्सवों में संस्कृत नाटक भी अधिकतया खेले जाने स्वाभाविक थे। गुजरात के प्रतापशाली और साहित्य प्रेमी महाराजा सिद्धराज जयसिंह के समय से मंत्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल के समय तक तो संस्कृत नाटकों का खूब ही प्रचार रहा और ये सब श्वेताम्बर नाटककार दि० हस्तिमल्ल के पूर्ववर्ती हैं अतः इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

महाराज सिद्धराज जयसिंह की विद्वत् सभा में दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ श्वेताम्बर वादिदेव सूरि का शास्त्रार्थ संवत् ११८१ में हुआ था उस प्रसंग का बहुत ही सरस वर्णन यशश्चन्द्र रचित मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण में मिलता है। इस नाटक के रचयिता यशचन्द्र (सपाद लक्ष्मी

सांभर नागौर अजमेर आदि प्रदेश) के राजा के आश्रित व मोढ़ जातीय थे। इनका दूसरा नाटक राजीमति प्रबोध है जिसकी प्राचीन प्रति भीनासर के चम्पालालजी के संग्रहालय में लिखा हुआ प्राप्त है। इसकी प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से कहलाया गया है कि यशश्चन्द्र ने दो महाकाव्य और चार नाटक लिखे थे पर उनके वे दो महाकाव्य और उनके ये नाटक अभीतक अप्राप्य और अज्ञात हैं "मुद्रित कुमुदचन्द्र" बहुत प्रसिद्ध है और प्रकाशित हो चुका है।

श्वेताम्बर जैन नाटककारों और नाट्यशास्त्र विशेषज्ञों में महाकवि रामचन्द्र का स्थान सबसे ऊँचा व प्रधान है। ये कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के पट्टधर महान् विद्वान शिष्य थे। इन्होंने [illegible] ११ संस्कृत नाटकों की रचना की है। जिनमें से नल विलास, सत्य हरिश्चन्द्र, निर्भय भीम व्यायोग और कौमुदी मित्रानन्द ये चार नाटक छप भी चुके हैं। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक सन् १९११ में इटालियन भाषान्तर से भी प्रकाशित हो चुका है। अगले सात नाटक ये हैं। रघुविलास, यदुविलास, मल्लिका मकरन्द प्रकरण, राघवाभ्युदय, रोहिणी मृगांक प्रकरण, वनमाला नाटिका और यादवाभ्युदय। इनमें से कई तो प्राप्त भी नहीं हैं।

रामचन्द्र नाटककार होने के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के महान आचार्य थे। अपने गुरुभाई के साथ इन्होंने 'नाट्यदर्पण' नामक वृत्ति सहित नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बनाया। अपने विषय का यह बहुत ही सुन्दर और मौलिक ग्रन्थ है। इसमें ४४ संस्कृत नाटकों के अवतरण हैं जिनमें से बहुत से आज अप्राप्य हैं। इनमें विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्त नाटक, जिसके अनेक अवतरण नाट्यदर्पण में पाये जाते हैं जो गुप्तकाल के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इन्हीं अवतरणों में जो बचे खुचे अंश मिले हैं उनके आधार से कन्हैयालाल मुन्शी ने 'ध्रुव स्वामिनी देवी" नामक ग्रन्थ की रचना की है।

रामचन्द्र का उल्लेखनीय विशिष्ट प्रबन्ध शतक है। इस प्रबन्धशत ग्रन्थ में एक प्राचीन सूची के अनुसार द्वादश रूपक नाटक आदि रूपकों की जानकारी ४ हजार श्लोक परिमित थी। १२ रूपकों के सम्बन्ध में इतना बड़ा विवेचनात्मक ग्रन्थ यह अद्वितीय था। पर खेद है अब प्राप्त नहीं होता। रामचन्द्र का 'नाट्य दर्पण' ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियन्टल सिरिज से प्रकाशित हो चुका है।

आचार्य हेमचन्द्र के एक दूसरे शिष्य देवचन्द्र के चन्द्रलेखा विजय प्रकरण नामक ऐतिहासिक नाटक की ताड़पत्रीय प्रति जैसलमेर के भण्डार में है। महाराजा कुमारपाल ने शाकम्भरी के राजा अर्णोराजा को हराया था। कुमारपाल के उस गौरव का बखान करनेवाला यह प्रशंसात्मक नाटक है। इसकी नायिका "चन्द्रलेखा" विद्याधरी है डा० भोगीलाल सांडेसर के मतानुसार यह चन्द्रलेखा अर्णोराज की बहन जल्हणा देवी थी जिसका विवाह कुमारपाल से हुआ। यह नाटक पाटन के कुमार विहार में अजितनाथ यात्रा महोत्सव के प्रसंग में कुमारपाल की सभा के परितोष के लिए खेला था। संवत् १२०७ के लगभग इसकी रचना हुई।

देवचन्द्र के "मानमुद्रा भंजन" नामक नाटक का उल्लेख मिलता है पर यह ग्रन्थ प्राप्य नहीं।

कुमारपाल के गद्दीवर अजयपाल के मन्त्री यशपाल का "मोहराज पराजय नाटक" एक रूपक है। जो संवत १२२९ से १२३२ के बीच रचा गया है। कुमारपाल ने कृपासुन्दरी से संवत् १२१६ मगसिर सुदी २ को विवाह किया अर्थात् कुमारपाल इस तिथि को परम जैनी बने उन्होंने राज्यभर में पशु वध और मद्य व्यसन का निषेध किया, अपुत्रीक के धन का जब्त करने का कानून बन्द किया इत्यादि महत्व की बातों का इसमें निर्देश है। इस नाटक का मुख्य विषय कुमारपाल के द्वारा मोहराजा के पराजय का है। यह नाटक भी छप चुका है। यह नाटक भी वीर यात्रा महोत्सव प्रसंग में खेला गया था।

महाराजा सिद्धराज के इष्ट मित्र प्रज्ञाचक्षु महाकवि श्रीपाल के पौत्र विजयपाल का 'द्रौपदी स्वयंवर' नाटक मुनिजिनविजयजीने सम्पादितकर प्रकाशित कर दिया है इसकी रचना संवत १२५१ से १३५१ के बीच में हुई थी। इसमें प्रधानतः वीर व अद्भुत रस हैं।

जैन मुनि रामभद्र का प्रबुद्धरौहिणेय नामक छःअंकी नाटक संवत १२५६ में महाराजा यशोपाल और जयपाल के बनाये मन्दिर के यात्रोत्सव में खेला गया था। इसमें भगवान् महावीर से प्रतिबुद्ध रोहिणेय चोर की रोचक आश्चर्यकारी कथा है।

धौलका के राणावीर धवल के मन्त्री सुप्रसिद्ध वस्तुपाल ने संवत् १२७७ में शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। उस संघ के परितोष के लिए यात्रामहोत्सव में कवि बालचन्द्र रचित करुणवज्रायुध नाटक खेला गया। जिसमें वज्रायुद्ध चक्रवर्ती ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने प्राणों के बलिदान कर देने की तैयारी की कथा है।

मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने गुजरात पर चढाई करके आये हुए दक्षिण के राजा सिंघण और उत्तर के सुलतान अल्तमस को एक साथ हरा दिया। इसके ऐतिहासिक प्रसंग का बड़ा ही सुन्दर निरूपण जयसिंहसूरि के हमीर मदमर्दन नाटक में है। इसकी रचना संवत् १२७६ से ८५ के बीच हुई है। यह नाटक भी प्रकाशित हो चुका है। खंभात में वस्तुपाल के पुत्र जयन्त सिंह की आज्ञा से भीमेश्वर के यात्रा के प्रसंग पर खेला गया था।

इसके अतिरिक्त मेघ प्रभवाचार्य का धर्माभ्युदय नाटक का उल्लेख मिलता है जिसमें दशार्णभद्र राजर्षि का चरित्र है।

मन्त्रीश्वर वस्तुतेजपाल बड़े ही उदार, धर्मनिष्ठ और विद्या प्रेमी थे। उनके आश्रय में अनेक जैनेतर कवियों ने गीत काव्य आदि बनाये। जिनमें से वीरधवल के राज पुरोहित और वस्तुपाल के इष्ट मित्र कीर्ति कौमुदी तथा सुरथोत्सव के कर्त्ता कवि सोमेश्वर ने उल्लाघराघव नामक नाटक बनाया, जो द्वारिका के जगत मन्दिर में प्रबोधनी एकादशी के दिन खेला गया था। उल्लाघराघव में राम कथा है।

सोमेश्वर के सुरथोत्सव की प्रशस्ति में कहा गया है कि सोमेश्वर ने भीमदेव की सभा को ग्रामद्र में एक नाटक बनाकर हर्षित किया। यह नाटक उल्लाघराघव से भिन्न होना चाहिए पर अब अप्राप्य है उल्लाघराघव को सोमेश्वर ने पुत्रमल शर्मा की प्रार्थना से बनाया था।

वस्तुपाल के आश्रित सुभट कवि ने दूतांगद नाटक पाटण में कुमारपाल स्थापित शिवमूर्ति के दोलोत्सव के प्रसंग पर त्रिभुवनपाल की आज्ञा से खेला था। अतः १२५८ से १३०० में यह लिखा गया। इस प्रकार हस्तिमल्ल के पूर्ववर्ती श्वेताम्बर जैन नाटककारों और जैनाश्रित दो कवियों के नाटकों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है। मेरे मित्र डा० भोगीलाल साडेसरा के गुजरात में संस्कृतनाटक नामक लेख से मुझे बड़ी सहायता मिली है, इसलिए मैं उनका आभारी हूँ।

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के समस्त जैन नाटक साहित्य का अध्ययन कर विशेष प्रकाश डाला जाना आवश्यक है। इन नाटकों की शैली, भाषा के साथ ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। हस्तिमल्ल के बाद जैन नाटक साहित्य थोड़ा ही लिखा गया प्रतीत होता है, पर जो भी हो उसकी खोज का जाकर प्रकाश डाला जाना वाञ्छनीय है।

यहाँ एक विशेष विचारणीय प्रश्न होता है कि संस्कृत में जब नाटकों का इतना प्रचार रहा तो अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती में जैन नाटक क्यों नहीं मिलते? पर जैसा कि पहले कहा गया है। १२ वीं से १४ वीं तक जैन रास, फागु चरचरी आदि लोक भाषा के काव्य ही उस समय अभिनीत होते थे। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली और प्राचीन रास आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख है। डांडिया रास अर्थात् लकुटि रास और ताला रासक उस समय काफी प्रसिद्ध थे ताला रास अर्थात् तालियों के साथ गाया जाने वाला रास बहुत ही प्रसिद्ध था। १५ वीं शताब्दी से यह मन्दिरों और गुरुआगमनोत्सवों आदि की नाट्य परम्परा बन्द सी हो गई। इसके बाद बड़े २ चरित्र काव्य रास बनने लगे और वे गाकर ही सुनाये जाते थे। इस समय के बीच नाटकों की क्या स्थिति रही? अन्वेषणीय है। १६ वीं शताब्दी से रम्मत ख्याल और तमाशे खूब प्रचलित हुए। पर जैन मुनियों ने उनकी रचना में भाग नहीं लिया, जैनेतर सैकड़ों ख्याल आदि रचनाएँ प्राप्त होती हैं व वे खूब प्रसिद्ध हैं।

स्वतन्त्र नाटक निर्माण के साथ श्वेताम्बर जैन विद्वानों ने जैनेतर नाटक ग्रन्थों की टीकाएँ भी बनाई हैं। उदाहरणार्थ *अनघ राघव की टिप्पण वृत्ति प्राप्त है*, मलधारी देव प्रभाचार्य ने अनघ राघव रहस्यादर्श नामक टीका ७३० श्लोक की और उनके शिष्य नरचन्द्र आचार्य ने २५० श्लोक परिमित टिप्पन लिखा और तपा गच्छ के जयचन्द्र सूरि के शिष्य ने अनघ राघव वृत्ति बनाई। इसी प्रकार कर्पूर मंजरी नामक प्राकृत नाटक पर धर्मचन्द्र रचित टीका प्राप्त है। अनघ राघव सुप्रसिद्ध मुरारि का प्रसिद्ध नाटक है और गुजरात में उसका अच्छा प्रचार रहा मालूम होता है। कर्पूर मंजरी नाटिका राजशेखर की कृति है। इनके अतिरिक्त जयचन्द्र सूरि की रम्भा मंजरी नाटिका, पद्मसुन्दर का ज्ञानचन्द्रोदय नाटक, अमरचन्द्र की वनमाला नाटिका आदि का उल्लेख जैन ग्रन्थावली में है।

"जोधपुर संग्रहालय की अज्ञात कुछ जैन धातु-मूर्तियाँ"

[श्रीयुत रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०]



'रेवाराउसोदा' (पर्वतसर, जोधपुर डिविजन, राजस्थान) नामक स्थान से प्राप्त ३ धातुमूर्तियाँ जोधपुर संग्रहालय में प्रदर्शित हैं तथा संग्रहालय के रजिस्टर की २३२४ संख्या के अन्तर्गत अङ्कित हैं। इन जैन मूर्तियों के पीछे मध्यकाल के लेख देवनागरी लिपि में उपलब्ध हैं। इन लेखों के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट हो सकता है कि कुछ लेख तो ऐसे हैं जो उसी तिथि की कुछ धातुमूर्तियों पर भी अङ्कित हैं परन्तु वे धातुमूर्तियाँ जोधपुर विभाग के एक दूरस्थ स्थान "बालोतरा" के श्री शीतलनाथ जी के जैन मंदिर में विद्यमान होने का उल्लेख है। श्री पूर्णचन्द नाहर[1] द्वारा उनके लेख पढे भी गये हैं परन्तु जोधपुर संग्रहालय की मूर्तियों द्वारा प्रस्तुत विवरण कहीं २ भिन्न भी है। यह खोज करने की बात है कि बालोतरा के उक्त मंदिर की उक्त मूर्तियाँ वहां आज भी विद्यमान हैं या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वे ही कालान्तर में किसी कारण वश पर्वतसर ले जायी गई। अभी तो इस दिशा में कुछ अधिक कहना कठिन ही है। प्रस्तुत निबन्ध में तो जोधपुर संग्रहालय के अन्दर रखी हुई कुछ मूर्तियों का विवेचन करने का विचार है।[2]

(१) संवत् १२३४ की मूर्तिः—

ऊंचाई ७ इञ्च तथा चौड़ाई ५ इञ्च। पीछे लेख[3] उत्कीर्ण है अर्थात्—'संवत् १२३४ जेष्ठ सुदि ११ सा० जसदेवभार्या जेऊ तत्पुत्रवीरदेव सात ""वाहड वीरदे श्रेयार्थमकारि प्र० देवसूरिभि०।

इस प्रतिमा में द्विबाहु तीर्थङ्कर बद्धपद्मासन मुद्रा में तथा बद्धाञ्जलि स्थिति में विराजमान हैं। सिर के ऊपर नागफण वितानाच्छादित है तथा सर्प के ७ फण हैं। देवता के दोनों ओर दो दो विद्याधर माला धारण किये, उनके नीचे स्थानकमुद्रा में एक एक चंवर धारण किये व्यक्ति तथा नीचे एक ओर एक पुरुष तथा दूसरी ओर एक स्त्री आसीन हैं। जिनासन के नीचे विपरीत दिशोन्मुख दो सिंह प्रदर्शित हैं। जिन भगवान् के वक्षस्थल पर श्री वत्सचिन्ह अंकित है। यहां जिन भगवान् का लाञ्छन उत्कीर्ण नहीं है।

---

१ जैन लेख संग्रह, भाग १, कलकत्ता, १९१८, पृ० १७४ तथा आगे।

२ श्री बालाराम कविकिङ्कर ने इन मूर्तियों का अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता प्रदान की है। इसके लिये मैं उनका अतीवाभारी हूं।

३ तुलना हेतु द्रष्टव्य नाहर, उपर्युक्त, भाग १, पृ० १७४, लेख ७२८।

(२) संवत् १५०१ की मूर्ति—

ऊँचाई ६ इंच तथा चौड़ाई लगभग ३½ इंच। आकार में यह प्रतिमा पहली से छोटी है। यहाँ सर्पफण अविद्यमान है। शेष भाव पूर्ववत् उत्कीर्ण है। इस मूर्ति में देवलाञ्छन अविद्यमान है परन्तु लेख[1] द्वारा यह स्पष्ट है कि यह मूर्ति 'श्रेयांसनाथ' की है यथा —

"संवत् १५०१ वर्षे माघवदि ६ बुधे उपकेशज्ञातौ[2] आ... णागगोत्रे सा० कान्ह पु० वील्हाभार्या देवी ही आत्मश्रेयसे श्रीश्रेयांस बिंब कारित श्री उपेशग० ककुदाचार्य सताने प्रतिष्ठित श्रीकक्कसूरिभि ।

इस लेख द्वारा उपकेशगच्छीय श्री ककुदाचार्य कक्कसूरि का भी बोध होता है। प्रथमलेख में भी देवसूरि जी का नाम तो उपलब्ध हुआ है परन्तु उनके गच्छ का नहीं।

(३) संवत् १५०४ की मूर्ति—

ऊँचाई ७½ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५½ इंच। यहाँ पर आसनदेव के ऊपर सातफणोंवाले सर्प का वितान विद्यमान है। आसन के नीचे तथा पूर्व वर्णित सिंहों के मध्य में सर्पलाञ्छन भी विद्यमान है। 'श्री पार्श्वनाथ' की यह मूर्ति सुन्दर है। इसके अतिरिक्त जिन भगवान् के ऊपर दोनों ओर तीर्थङ्कर ध्यानस्थमुद्रा में प्रदर्शित हैं तथा विद्याधरों का अभाव है। इनके भी ऊपर गज प्रदर्शित हैं। मूर्ति के पृष्ठ भाग पर उत्कीर्ण लेख[3] इस प्रकार है —

'संवत् १५०४ वर्षे वैशाख स० ७ दिन श्री उकेशवंशे सा० डीडापुत्र सा० नाथ श्रावकेण तथा स० दूना स० (स्वायरा) सहितेन सुपुण्यार्थं श्री पार्श्वजिनबिंब कारित। श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रसूरिभि । शुभमस्तु।

प्रस्तुत लेख द्वारा खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रसूरि का भी उल्लेख हुआ है। यहाँ पर पार्श्वनाथ की उक्त मूर्ति पुण्यार्जन हेतु बनायी गयी। इससे पूर्व की, अर्थात् श्रेयांस प्रतिमा, तो आत्मकल्याण हेतु बनायी गयी थी।

(४) संवत् १५०६ की मूर्ति —

ऊँचाई ७ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५½ इंच। यहाँ सर्पवितान अविद्यमान है। यहाँ नीचे जिनदेव लाञ्छन तो उत्कीर्ण है परन्तु अस्पष्ट है। लेख[4] द्वारा यह ज्ञात होता है कि मूर्ति 'श्री सुमतिनाथ जी' की है —

१ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही, पृ० ५४, लेख संख्या २११ वही, भाग २, पृ २३७, लेख संख्या १३३३।

२ वर्तमान ओसियाँ जोधपुर से ३६ मील दूर। इस स्थान के अन्य नाम उकेश, ऊकश*** इत्यादि भी उपलब्ध हैं।

३ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही भाग १ पृ० १७५, लेख संख्या ७०१

४ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही, भाग १, पृ० १७५, लेख संख्या ७३३

“(स्वस्तिचिन्ह)। संवत् १५०९ वर्षे मागसिर सु० ७ ऊकेशवंशे वहरागोत्रे सा० सुन सा० हरिपालभार्या राजलदे पुत्र सा० नागाकेन युत ......सा० ......श्री सुमतिना० बिंबं कारित श्री खरतरगच्छे श्री जिनराजसूरिपट्टे श्री जिनचन्द्रसूरिभि प्रतिष्ठितं शुभं भवतु।

यहाँ पर खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिन चन्द्रसूरि का उल्लेख है।

(५) संवत् १५०९ की मूर्ति :—

ऊँचाई लगभग ७½ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५½ इंच। यह मूर्ति पार्श्वनाथ की उपर्युक्त प्रतिमा की भाँति की है परन्तु यहाँ जिन भगवान् के सिर के ऊपर सर्पफणवितान अविद्यमान है। नीचे लाञ्छन भी उत्कीर्ण है परन्तु स्पष्ट नहीं जान पड़ता। लेख[1] द्वारा बोध होता है कि यह मूर्ति श्री वासुपूज्य की है यथा —

“संवत् १५०९ वर्षे कार्तिक सुदि १३ गुरौ ऊकेशवंशे व्यवहारीगोत्रे सा० जाजण पुत्र हरपालभार्या राजलदे पुत्र सा० धरमा भा० धनाईपुत्र सा० सहजाकेन स्वपितृपुण्यार्थ श्री वासुपूज्य बिंब कारितं। श्री खरतरगच्छे श्री जिनराजसूरिपट्टे श्री भद्रसूरि युग प्रधानगुरुभिः प्रतिष्ठित।”

यहाँ पर युगप्रधानाचार्य खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रसूरि का उल्लेख किया है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा स्वपितृपुण्यार्थ हुई थी।

(६) संवत् १५३७ की मूर्ति :—

ऊँचाई ५½ इंच तथा चौड़ाई ८ इंच। यहाँ पर भी सर्पफण अथवा लाञ्छन अविद्यमान हैं परन्तु लेख[2] द्वारा यह स्पष्ट है कि यह प्रतिमा 'श्री धर्मनाथ की है अर्थात्' —

“संवत् १५३७ वर्षे वैशाष[3] सुदि ७ दिने श्री ऊकेशवंशे विद्गरागोत्रे अभयसी[4] संताने सा० ऊनाभार्या लखमादे पुत्र सा० डूंगर सुश्रावकेण भा० पूराई पुत्र नेता जीवादेवादि युतेन श्री धर्मनाथ बिंब का० श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रसूरि पट्टे श्री जिन समुद्रसूरिभिः।

यहाँ पर खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रसूरि जी का उल्लेख है।

उक्त मूर्तियों के लेखों द्वारा जिन-प्रतिमाओं को पहचानने में पर्याप्त सहायता मिली है। इसी प्रकार की कुछ मूर्तियाँ साचोर (सत्यपुर, जोधपुर) से प्राप्त हुई थीं तथा जोधपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन में से कुछ पर लेख उत्कीर्ण नहीं है। अध्ययनोपरान्त शीघ्र ही उनको भी प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

---

१ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही, पृ० १७५ लेख संख्या ७३२।

२ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही पृ० १७६ लेख संख्या ७३५।

३ यहाँ 'ष' द्वारा 'ख' का भाव व्यक्त किया है।

४ अर्थात् 'अभय सिंह'।

देवगढ़ और उसका कला वैभव

[प्रो० ज्योति प्रसाद जैन एम ए, एल एल बी, लखनऊ]

देवगढ़ चिरकाल पर्यन्त जैनों का एक प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। वर्तमान में इस नाम का एक छोटा सा गाँव उत्तर प्रदेश के झांसी जिले में वेत्रवती (बेतवा) नदी के कूल पर तथा ललितपुर की पहाड़ियों के पश्चिम छोर पर घने जंगल के बीच बसा हुआ है। यह ग्राम देहली से बम्बई जाने वाली मध्य रेलवे के ललितपुर स्टेशन से १९ मील तथा उसीके जाखलौन स्टेशन से लगभग ८ मील दक्षिण पश्चिमोत्तर स्थित है। इस समय उसकी जनसंख्या लगभग दो सौ ही है जिसमें जैनियों और सहरिया की ही संख्या अधिक है। गाँव के निकट तक पहुँच जाने पर भी सामान्य यात्री को कोई विशेष आकर्षक वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती किन्तु उसके चहुँ ओर जंगल में यत्र तत्र बिखरी हुई अनगिनत प्राचीन खण्डित मूर्तियाँ एवं भवनों के प्रस्तर खण्ड कल्पनाशील यात्रियों को इस प्रदेश के अतीत गौरव की मूक गाथा सुना ही देते हैं।

देवगढ़ का प्राचीन चतुष्कोण दुर्ग गाँव के निकट ही एक गोलाकार पहाड़ पर बना हुआ है जो उत्तर दक्षिण लगभग एक मील लम्बी और पूर्व पश्चिम लगभग पौन मील चौड़ी है। पहाड़ की चढ़ाई सुगम और सीधी है। ऊपर चढ़ने के लिये पश्चिम की ओर एक मार्ग बना हुआ है। मैदान में बने हुए एक प्राचीन सरोवर को पार करने के उपरान्त पहाड़ पर चढ़ने के लिये प्रस्तरनिर्मित सीढ़ियोंदार एक प्राचीन विस्तृत सड़क मिलती है जिसके दोनों ओर करधई, तेंदू और साल के घने वृक्ष अपनी सुदीर्घ शाखाओं द्वारा सघन शीतल छाया किए रहते हैं। पर्वत के ऊपर पहुँचने पर एक भग्न तोरण द्वार मिलता है जो पर्वत की परिधि को आवृत करने वाले दुर्गकोट का प्रमुख द्वार प्रतीत होता है। इसे कुंज द्वार भी कहते हैं। इसकी कारीगरी दर्शनीय है। इस द्वार को पार करने पर एक के बाद एक दो चौड़े कोट और मिलते हैं। इन्हीं भीतरी दोनों कोटों के भीतर अधिकांश जैन मन्दिर अवस्थित हैं। [illegible] कलापूर्ण प्राचीन देवालयों के कारण ही देवगढ़ की इतनी प्रसिद्धि है पर्वत के दक्षिणी पश्चिमी छोर पर वैष्णव सम्प्रदाय का वराह मन्दिर है जो नष्टप्राय है। प्रायः ऐसी ही ध्वस्त दशा में वह प्राचीन विष्णु मन्दिर है जिसे दशावतार मन्दिर भी कहते हैं जिसने पुरातत्वज्ञों एवं कलामर्मज्ञों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया है। किले के निम्न भाग बेतवा बहती है उस ओर पहाड़ की ऊँची दीवार को काट कर बनाये गये तीन घाट या मार्ग हैं जिनमें से नाहर घाट और राजघाट अधिक प्रसिद्ध हैं। इन घाटों के आस पास कई कृत्रिम अकृत्रिम गुफा मन्दिर भी हैं।

देवगढ़ जिस स्थान में स्थित है वह भूभाग प्राकृतिक शोभा की दृष्टि से अत्यन्त मनोरम एवं अप्रतिम है। यहाँ वेत्रवती एक सकरी घाटी में से होकर विन्ध्य पर्वत माला में प्रवेश करती है

और तदुपरान्त एक चौड़ी धारा के रूप में देवगढ़ दुर्ग को तीन ओर से आवृत्त करती हुई प्रसार पाती है। विन्ध्य पर्वत श्रेणी को काट कर बेतवा ने यहाँ कुछ एक अत्यन्त चित्ताकर्षक दृश्य निर्माण किये हैं। पहाड़ की विकट घाटी में बहती हुई सरिता सहसा पश्चिम की ओर घूम जाती है और इस प्रकार दृश्य को और अधिक सुन्दर बनादेती है। दक्षिण दिशा में देवगढ़दुर्ग की सीढ़ियां नदी के जल को स्पर्श करती हैं। इसी ओर देवमूर्तियों एव अन्य कलाकृतियों से युक्त कतिपय गुहा मंदिरों को अपने अंकों में लिये हुए नाहरघाटी एव राजघाटी अवस्थित हैं। इस स्थान पर गिरते हुए जल की कलकल ध्वनि ऊपर लटकती हुई चट्टानों पर दूरदूर तक सुनाई देती है। इन चट्टानों के किनारे किनारे बेतवा के दाहिने तट पर मैदान पर्याप्त ढालू होगया है, और इस ढाल के निकट ही मैदान के पश्चिमी सिरे पर दक्षिण की ओर से पर्वतमालाओं तथा पश्चिम एव पूर्व दिशा में छोटे छोटे पहाड़ी-टीलों से घिरा हुआ उक्त ढाल का आकर्षणकेन्द्र दशावतार मंदिर अत्यन्त रमणीक दीख पड़ता है। बेतहाउस, फर्ग्युसन, बरजेस आदि कलामर्मज्ञों ने यह अनुभव किया है कि अपने तीर्थस्थान एव सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित करने के लिये प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण स्थलों के चुनने में जैनाजैन सदैव बेजोड़ रहे हैं। देवगढ़ इस तथ्य को भली प्रकार चरितार्थ करता है। प्रकृति की सुषमापूर्ण गोद में सुप्त देवगढ़ का वैभव आज भी अपनी प्राकृतिक एव कलात्मक द्विविध सौन्दर्य राशि से दर्शकों को सौन्दर्यानुभूति के लिये अनुपम प्रेरक बना हुआ है। विविध जातीय वन्य पशुओं एवं पक्षियों के कलरव से गुंजायमान हरीभरी घनी वनस्थली के मध्य अपने शिरपर दुर्ग रूपी मुकुट धारण किये हुए सुन्दर हरीतिमा से वेष्टित देवगढ़ पर्वत अत्यन्त सुरम्य एव मनोरम प्रतीत होता है।

इस स्थान के भग्नावशेषों को देखकर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि किसी समय चिरकाल पर्यन्त वह एक सुन्दर सुदृढ़ दुर्ग से युक्त भरापूरा विशाल रमणीक नगर एक धर्म और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा। इधर कई शताब्दियों से अवश्य ही वह निर्जन वनस्थली के मध्य एक उपेक्षित—प्रायः विस्मृत सा ही जीवन व्यतीत करता आ रहा है। कैप्टन चार्लस स्ट्रेहग के शब्दों में 'देवगढ़ के निकट आकर वन उसके चहुँ ओर अत्यन्त घना हो गया है और उसके नीचे बहनेवाली बेतवा भी दोनों किनारों पर स्थित पहाड़ियों के कारण दूर से अदृश्य ही बनी रहती है। देवालयों से पूरित ये पहाड़ियाँ आकर्षण का केन्द्र थीं और आज भी उनके भग्नावशेष प्राचीन भारतीय रूप शिल्प का कोषागार बने हुए हैं। किन्तु अब ये खण्डहर चहुँओर उगे घने वृक्षों की चोटियों को भेदकर दूर से दीख भी नहीं पड़ते।" तथापि इससे भी कुछ लाभ ही हुआ। जहाँ लोक की उपेक्षा ने उन्हें झाड़झखाड़ और वन्य पशुओं का आवास बना दिया तथा काल के प्रकोप से वे शनैः शनैः भूमिसात् एवं विनष्ट होते रहे, वहाँ आततायी मूर्ति मंदिर विध्वंसकों की कुदृष्टि से भी उनकी रक्षा हुई। फलस्वरूप

देवगढ़ के अवशेष आज भी प्राचीन भारतीय कला और उसके विकास के अध्ययन के लिये प्रचुर सामग्री प्रदान करते हैं। किन्तु स्वयं देवगढ़ का इतिहास प्राय अन्धकाराच्छन्न है।

यह स्थान प्राप्त अवशेषों, शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक साधनों से ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में इस प्रदेश पर अधगम्य शबर जाति का निवास था। महाभारत काल में यह भूभाग दशार्ण देश का अंग था और पाण्डवों की राज्यसीमा के भीतर पड़ता था। शबरों या सहरियों का निवास बहुत पीछे तक रहा, उनसे गोंड लोगों ने इसे छीन लिया। महावीरोत्तर मगध के शैशुनाग नन्द मौर्य साम्राज्य का भी यह प्रदेश अंग रहा। सम्भवतया इसी युग में किसी समय गोंड लोगों ने यहाँ सर्व प्रथम दुर्ग और नगर का निर्माण किया। गोंडों से इस प्रदेश के गुप्तनरेशों ने जीता और इसी काल से देवगढ़ का वास्तविक अभ्युदय प्रारम्भ हुआ। उस समय यह एक प्रसिद्ध राजमार्ग पर स्थित था और गुप्त साम्राज्य का एक प्रमुख जनपद था और सम्भवतया तत्प्रदेशीय भुक्ति का केन्द्रीय स्थान था। गुप्तकाल के कई जैन वैष्णव देवालय, मूर्तियाँ तथा भवनों के अवशेष उस काल में इसका एक समृद्ध नगर होना सूचित करते हैं। गुप्तों के उपरान्त हूणों ने और फिर मालवे के यशोधर्मन और तदुपरान्त कन्नौज के वर्धन वंश का इस प्रदेश पर अधिकार रहा। ८ वीं से १० वीं शताब्दी पर्यन्त प्रथम भिन्नमाल और फिर कान्यकुब्ज के गुर्जर प्रतिहारों का देवगढ़ पर प्रभुत्व रहा। इन गुर्जर सम्राटों के काल में यह नगर एक महत्त्वपूर्ण प्रान्तीय केन्द्र और एक महासामन्त की राजधानी था। इसी काल में देवगढ़ अपने वैभव और कला की उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तों और गुर्जर प्रतिहारों के मध्य की शताब्दियों में इस स्थान पर किसी जैन राजवंश या उपराज्यवंश का शासन रहा, उन्होंने ही इस सुरम्य पर्वत पर यह सुन्दर सुदृढ़ निकुट दुर्ग निर्माण कराया और उसे अनेक जैन देवालयों एवं कलाकृतियों से अलंकृत किया। पर्वत के ऊपर और दुर्गकोट के भीतर अन्य किसी धर्म के या उसके देवालयों आदि के अवशेष नहीं मिलते। इसके विपरीत ६ वीं शती ई० के मध्य के एक शिलालेख से सिद्ध होता है कि उसके पूर्व भी यह दुर्ग और उसके भीतर कई प्रमुख जिनमन्दिर विद्यमान थे। एक विद्वान् का अनुमान है कि ८६ वीं शती ई० में यहाँ किसी देववंश का शासन रहा है। सम्भव है देवगढ़ के तत्कालीन शासक उपरोक्त जैन राज्यवंश का [illegible] यह नाम रहा हो। किन्तु इतिहास में इस वंश का कोई पता नहीं चलता। गुर्जर प्रतिहार सम्राट् स्वयं जैनधर्म के प्रति अत्यन्त सहिष्णु और उसके प्रश्रयदाता थे। उनके उपरान्त १ वीं से १३ वीं शती ई० पर्यन्त जेजाकभुक्ति के चन्देल नरेशों का इस स्थान पर अधिकार रहा। उनके राज्य की यह एक उपराजधानी ही थी। चन्देल नरेश भी जैनधर्म के अत्यधिक प्रश्रयदाता थे। उनके शासन में देवगढ़ के क धार्मिक एवं कला वैभव की अभिवृद्धि ही हुई। यहाँ के अधिकांश महत्त्वपूर्ण अवशेष

प्रतिहार चन्देल काल के ही हैं। १३ वीं शती ई० में मुसलमानों का इस प्रदेश पर अधिकार हो गया, किन्तु मुस्लिम काल में यह स्थान प्रमुख राजपथ से दूर पड़ गया और धीरे-धीरे घने वन से वेष्टित होने लगा, फलस्वरूप उनकी कुदृष्टि देवगढ़ के देवालयों पर न पड़ पाई और विधर्मियों द्वारा विध्वंस किये जाने से उनकी रक्षा हो गई। १७ वीं शताब्दी से मुगल सम्राटों के अधीनस्थ बुन्देले राजपूतों का इस सम्पूर्ण प्रदेश पर अधिकार हुआ और इसी कारण विन्ध्यभूमि का यह सम्पूर्ण भाग बुन्देलखण्ड कहलाने लगा। इस काल में देवगढ़ का राजनीतिक महत्त्व कम होता गया और धार्मिक महत्त्व ही अवशिष्ट रहता गया। फिर भी १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ तक देवगढ़ का दुर्ग एक सुदृढ़ एवं सुरक्षित दुर्ग था। सन् १८११ ई० में जब महाराजा सिंधिया की ओर से उसके सेनापति कर्नल बैपटिस्टी फिलोज ने बुन्देलों से देवगढ़ को छीनना चाहा तो वह लगातार तीन दिन तक युद्ध करने के उपरान्त ही उस पर अधिकार कर पाया। देवगढ़ पर सिन्धिया का अधिकार कुछ ही काल रहा। सिन्धिया ने चन्देरी के बदले में उसे अंग्रेजी सरकार को दे दिया और तब से स्वातन्त्र्य प्राप्ति पर्यन्त वह अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत संयुक्त प्रान्त के झाँसी जिले की ललितपुर तहसील का एक भाग रहता आया है। वर्तमान में विन्ध्यभूमि का यह भूभाग उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भाग के उसी जिले की और तहसील का एक अंग है।

देवगढ़ का प्राचीन नाम लुअच्छगिरि था। कम से कम ९ वीं शताब्दी ई० के मध्य तक यह स्थान इसी नाम से प्रसिद्ध था। ११ वीं शताब्दी के अन्त में चन्देलनरेश कीर्तिवर्मन के मन्त्री वत्सराज ने इस स्थान पर एक नवीन दुर्ग निर्माण कराके, अथवा प्राचीन दुर्ग का ही जीर्णोद्धार कराकर इसका नाम अपने स्वामी के नाम पर कीर्त्तिगिरि रक्खा। ये दोनों ही नाम विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये और शताब्दियों से यह स्थान देवगढ़ नाम से ही प्रसिद्ध रहता आया है। श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी ने ललितपुर तहसील की अपनी पुरातत्त्विक खोज के विवरण में सन् ८५० ई० से ९९९ ई० पर्यन्त इस नगर पर किसी देववंश का अधिकार होने की कल्पना की है जिसके कारण इस स्थान का नाम देवगढ़ पड़ा। इतिहास में ऐसे किसी वंश का उल्लेख नहीं मिलता और इस काल प्रतिहार नरेशों का प्रभुत्व इस नगर पर था यह बात असंदिग्ध है। संभव है उनके जो महासामन्त इस प्रदेश के प्रान्तीय शासक थे उनका अपना वंश देववंश कहलाता हो। किन्तु उन्हीं सम्राटों एवं महासामन्तों के काल के सन् ८६२ ई० के शिलालेख में इस दुर्ग का नाम लुअच्छगिरि दिया हुआ है। हो सकता है कि गुप्तों के उपरान्त और प्रतिहारों के पूर्व जिस जैन राज्यवंश का शासन और अधिकार इस नगर पर रहा और जिसने इस पर्वत पर अनेक भव्य जिनालयों से युक्त त्रिकुट दुर्ग का निर्माण कराया उसका नाम देववंश रहा हो। सन् ८६२ ई० का उपरोक्त शिलालेख जिस जैन मानस्तम्भ पर अंकित

है उसके प्रति ठापक आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव थे। सम्भव है वे देवसंघ के आचार्य हों और इस स्थान पर अपनी भट्टारकीय गद्दी स्थापित की हो तथा यहाँ के प्रसिद्ध धर्माचार्य रहे हों, उनके अपने या उनके संघ के नाम से यह दुर्ग देवगढ़ कहलाने लगा हो इस प्रदेश में प्रचलित एक जन श्रुति भी है—प्राचीन काल में किसी समय देवपत और खेमपत नामके दो जैनधर्मावलम्बी भ्राता इस नगर में रहते थे। देवकृपा से उन्हें पारसपथरी प्राप्त हो गई, जिसके प्रभाव से वे विपुल धन ऐश्वर्य के स्वामी बन गये। उस धनका सदुपयोग इन भ्रातादय ने इस स्थान पर अनेक भव्य जिनायतनों का निर्माण कराने तथा दुर्ग एवं नगर का सौन्दर्य तथा वैभव बढ़ाने में किया। तत्कालीन राजा ने उन पर आक्रमण करके वह पथरी उनसे बरबस छीनना चाही, किन्तु देवपत ने उक्त पथरी को इसके पूर्व ही बेतवा के गंभीर जल में विसर्जित कर दिया। कहा जाता है कि इस स्थान के महान निर्माता उक्त देवपत के कारण ही यह स्थान देवगढ़ कहलाया। यह भी संभव है कि अनगिनत देव मूर्तियों एवं देवायतनों के कारण ही उसका देवगढ़ नाम प्रसिद्ध हुआ। कम से कम जैनों की दृष्टि में तो अपने बहुसंख्यक प्राचीन देवमंदिरों एवं देव प्रतिमाओं के कारण यह एक सच्चा देवगढ़ बना चला आया है और किसी तीर्थङ्कर की कल्याणक भूमि या कोई अतिशयक्षेत्र अथवा किसी शलाका पुरुष का जन्म स्थान न होते हुए भी एक पवित्र धर्मतीर्थ के रूप में दर्शनीय एवं वन्दनीय रहता आया है।

देवगढ़ के पुरातत्त्वावशेषों में से अधिकांश जैन मंदिरों मूर्तियों और भवनों के ही भग्न अभग्न अवशेष है, और उनमें से भी अधिकांश उसके केन्द्रीय स्थान दुर्ग कोट के भीतर ही हैं। इन जैन मन्दिरों में कुछ बहुत छोटे छोटे धर्मायतनों को छोड़कर शेष लगभग ४० ४१ भव्य जिन मन्दिरों के स्पष्ट चिन्ह मिलते हैं और इनमें भी लगभग १६–१७ बहुत कुछ अच्छी हालत में हैं। इन मन्दिरों में से अधिकांश ८ वीं से १२ वीं शताब्दी के मध्य बने प्रतीत होते हैं। कुछ एक गुप्तकाल जितने प्राचीन भी प्रतीत होते हैं जबकि कई मंदिर १५ वीं से १८ वीं शती के मध्य भी निर्मित हुए हैं। दूसरे कोट के भीतर केवल दो मन्दिर हैं जिनमें से एक तो सोलह स्तम्भों पर आधारित सुन्दर मंडप से युक्त विशाल एवं भव्य जिनालय का खंडहर है। मंडप के अवशिष्टांश में पूर्वाभिमुख पद्मासन एवं खड्गासन जिन मूर्तियां चमरवाहक यक्षयक्षी पुष्पवृष्टि आदि विविध लक्षणों से युक्त दो पंक्तियों में उत्कीर्ण हैं। मंडप की बाहिरी दीवार में भी कई मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, उनके सामने ही एक छोटा सा मानस्तम्भ बना हुआ है। कुछ छोटी छोटी मूर्तियाँ मन्दिर के सामने भी विराजमान हैं। दूसरा मन्दिर अधिक जीर्ण शीर्ण दशा में है, इसमें भी कलापूर्ण पद्मासन एवं खड्गासन मूर्तियाँ विद्यमान हैं इस मन्दिर के बाहिर दक्षिण की ओर खंडित मूर्तियों का एक ढेर लगा हुआ है। इनके अतिरिक्त शेष समस्त मन्दिर तीसरे कोट के भीतर हैं।

तीसरे कोट के मन्दिरों में सर्वाधिक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण मन्दिर १६ वें तीर्थङ्कर भ० शान्तिनाथ का है। मन्दिर के गर्भगृह में भ० शान्तिनाथ की १२ फुट ३ इंच की खड्गासन प्रतिमा अत्यन्त चित्ताकर्षक है। शान्तिनाथ ही देवगढ़ के अधिष्ठाता देव प्रतीत होते हैं, यह प्रतिमा भी पर्याप्त प्राचीन है। गर्भगृह के आगे लगभग ४२ फुट लम्बा चौड़ा वर्गाकार मण्डप है जो छ छः स्तभों की छः पंक्तियों पर आधारित है मण्डप के मध्य एक विशाल वेदिका पर कई मूर्तियाँ विराजमान हैं जिनमें से एक बाहुबलि की है। यह मूर्ति गोम्मटेश्वर बाहुबलि की दाक्षिणात्य मूर्तियों से कई अंशों में विलक्षण है। बामी, कुक्कुटसर्प, लता आदि के अतिरिक्त इस मूर्त्ति पर बिच्छू, छिपकली आदि अन्य जन्तु भी रेंगते हुए अंकित किये गये हैं और साथ ही इन उपसर्गकारी पदार्थों एवं जन्तुओं का निवारण करते हुए देव युगल का दृश्य भी अंकित है। बाहुबलि की ऐसी एक मूर्त्ति चन्देरी में भी विद्यमान बताई जाती है। मन्दिर के सामने १६-१७ फुट की दूरी पर चार सुन्दर स्तम्भों पर आधारित एक अन्य मध्य मण्डप है। इन्हीं स्तम्भों में से एक पर सन् ८६२ ई० का गुर्जर प्रतिहार सम्राट् भोजदेव के समय का प्रसिद्ध लेख उत्कीर्ण है। शान्तिनाथ के इस मन्दिर में तीन अन्य दस दस फुट ऊँची खड्गासन प्रतिमाएँ भी मूल प्रतिमा जैसी विराजमान हैं, छोटी बड़ी अन्य अनेक प्रतिमाएँ भी हैं। इस मन्दिर के आस पास अन्य अनेक छोटे बडे मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें से एक लाखो मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। एक अन्य मन्दिर अपने कलापूर्ण प्रवेश द्वार के लिये दर्शनीय है। उसके नीचे की ओर करों में जलपात्र और सिरपर नागफण धारण किये हुए सम्भवत गंगा जमुना की मनोमा युगल मूर्त्तियाँ हैं। १००८ जिन मूर्त्तियों से युक्त पाषाण का एक सुन्दर सहस्रकूट चैत्यालय यथावत अवस्थित है। एक अन्य मन्दिर सहस्रकूट मानस छत्र की रचना प्रकट कर रहा है। एक मन्दिर की दीवार पर भगवान की माता की पाँचफुट उत्तुंग मनोहर मूर्त्ति उत्कीर्ण है। एक स्थान पर पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के शिर पर नागफण न बनाकर उसके बगल में दोनों ओर विशालकाय सर्प बना दिये हैं। तथा ऋषभदेव की मूर्त्ति के शिर पर जटाएँ दिखाई हैं। एक मन्दिर में चरण चिन्ह ही हैं। एक दूसरे में तीर्थङ्कर मूर्त्तियों के अतिरिक्त मुनि आर्जिका आदि की मूर्त्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। एक मन्दिर बाहिरी बरामदे में विराजमान चतुर्भुजा सरस्वती की, षोडशभुजा गरुडवाहना चक्रेश्वरी की, अष्टभुजा वृषभवाहना ज्वालमालिनी की एवं कमलासना पद्मावती की मूर्त्तियाँ अत्यन्त कलापूर्ण एव चित्ताकर्षक हैं। इनमें से एक पर वि० स० १२२६ उत्कीर्ण है, संभव है ये चारों मूर्त्तियाँ एक ही कलाकार की कृति हों। शान्तिनाथ के उपरोक्त बडे मन्दिर के मण्डप की एक दीवार पर भी २४ शासन देवियों में से २० की सुन्दर मूर्त्तियाँ उनके नाम सहित उत्कीर्ण हैं जो रा० ब० दयाराम साहनी के मतानुसार उत्तरभारत में प्राप्त यक्षि मूर्त्तियों से सर्वथा विलक्षण एवं अद्वितीय हैं। कहीं कहीं गृहस्थ श्रवक श्राविकाओं की मूर्त्तियाँ भी पाई जाती हैं।

देवगढ़ ही एक स्थान है जहाँ 'अरिहन्त' 'सिद्ध' 'आचार्य' 'उपाध्याय' और 'साधु' पाँचों ही परमेष्ठियों की मूर्तियाँ अनेक उपलब्ध होती हैं। तीर्थङ्करों में से तो चौबीसों ही तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ यहाँ मिलती हैं। कई स्थानों में विशेषकर शान्तिनाथ और चन्द्रप्रभु के आठ आठ या चार चार अन्य जिनमूर्तियों से युक्त पट भी दर्शनीय हैं। कहीं कहीं एक वृक्ष के नीचे गोद में एक एक बच्चा लिये हुए दम्पत्ति युगल की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। श्री दयाराम साहनी के मतानुसार ये दृश्य भोगभूमि के हैं जिनमें कल्पवृक्ष के नीचे स्थित हुए युगलिया सन्तान युक्त प्रसन्न युगल प्रदर्शित किये गये हैं। देवगढ़ के समस्त जैन प्रस्तराङ्कनों का विधिवत अध्ययन करने से उनमें अनेक अनुश्रुतियाँ एवं पौराणिक आख्यानों का चित्रण मिलने की सम्भावना है।

देवगढ़ के दुर्ग के भीतर जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय की मूर्तियाँ प्रायः नहीं पाई जातीं। सभी मूर्तियाँ प्रस्तरनिर्मित हैं या प्रस्तराङ्कनों के रूप में हैं। अधिकांश खड्गासन हैं जिनकी ऊँचाई दो ढाई फुट से लेकर बारह फुट तक है। मूर्तियों के केशों की बनावट भिन्न भिन्न प्रकार की है, कहीं कहीं उन पर बौद्धकला की छाप भी प्रतीत होती है, विशेषकर अभय या वरमुद्रा युक्त आचार्य मूर्तियों में। सभी मूर्तियों की बनावट सुन्दर सुडौल एवं कलापूर्ण है। इन प्रतिमाओं का कारीगरी तत्कालीन जैनकला की उत्कृष्टता का परिचायक है। अपनी प्रशान्त वीतराग कायोत्सर्ग मुद्रा से यहाँ की अम्लिम जिनमूर्तियाँ दर्शकों के मन को मोह लेती हैं और वे तद्रूप वीतरागता के भाव उदित करने में समर्थ हैं।

प्रशमरस निमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं वदनं,
कमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि धत्ते शस्त्रसम्बन्ध वन्ध्यं
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव॥

महाकवि धनपालोक्त जिनमूर्तियों का यह आदर्श देवगढ़ की प्रतिमाओं में पग पग पर भली प्रकार चरितार्थ होता है। अर्हन्तों एवं मुनियों की दिगम्बर प्रतिमाओं के अतिरिक्त सरागी देवी देवताओं एवं गृहस्थ स्त्री पुरुषों की भावभंगी परिधान, अलङ्करण आदि के चित्रण में कलाकार ने कमाल किया है। अनेक जैन सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्रतीक यत्र तत्र उत्कीर्ण मिलते हैं और लोक जीवन के दृश्य भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार देवगढ़ का रूप शिल्प न केवल धार्मिक एवं कलात्मक दृष्टि से ही वरन् सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

देवगढ़ के जिन मन्दिरों का निर्माण उत्तर भारत में विकसित नागर अथवा आर्य शैली में हुआ है। इसे पंचरत्न शैली भी कहते हैं और यह दक्षिण भारत में प्रचलित द्राविड़ शैली से भिन्न है। देवगढ़ के शिखरबन्द मन्दिर उक्त नागर शैली के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। शान्तिनाथ आदि मन्दिरों के शिखर अत्यन्त सुन्दर हैं। सभी मन्दिर प्रस्तरनिर्मित हैं और उनका कटाव और

कारीगरी दर्शनीय है। मंदिरों के गर्भगृह प्रायः अन्धकार मय हैं और उनके द्वार बहुत छोटे छोटे हैं। किन्तु गर्भ गृहों के आगे के सभा मंडप खुले और विशाल हैं। जिन स्तंभों पर वे आधारित हैं उनकी तथा छतों एवं दीवारों की कारीगरी और उन पर उत्कीर्ण मूर्त दृश्य एवं अलङ्करण चित्ताकर्षक हैं। मंदिरों के तोरणद्वार भी सुन्दर एवं कलापूर्ण हैं। चरणचिन्हों से युक्त शिखर-बद्ध खुली छतरियाँ भी हैं और जिनमूर्तियों एवं मंगल प्रतीकों से अलङ्कृत कई सुन्दर उत्तुंग मानस्तम्भ भी हैं। स्वयं दुर्गकोट, उसका तोरणद्वार, घाट और सीढ़ियाँ, विशाल पाषाण में काट कर बनाई बावड़ी आदि भी प्राचीन स्थापत्य के अच्छे नमूने हैं। वस्तुतः उपरोक्त नागर शैली के स्थापत्य का विकास गुप्त काल में और वह भी मुख्यतया देवगढ़ के जिनायतनों द्वारा ही प्रारंभ हुआ प्रतीत होता है यही कारण है कि देवगढ़ और उसके उपरान्त खजुराहो, चन्देरी, अजयगढ़, महोबा, अहार, पपौरा आदि के प्राचीन जैन मंदिर प्राग्मुस्लिम कालीन सम्पूर्ण भारतीय कला का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। गुप्त, गुर्जर, प्रतिहार और चन्देल वंशों के परम सहिष्णु नरेशों के आश्रय में उत्तरभारत की धर्माश्रित कला विशेष कर जैनों के प्रयत्न से खूब फली फूली।

भारतीय इतिहास का वह स्वर्णयुग धार्मिक सद्भाव से परिपूर्ण था। साम्प्रदायिक विद्वेष एवं धर्मान्धता से शून्य उस युग में जैनों, वैष्णवों एवं शैवों ने निर्विरोध साथ ही साथ भारतीय कला और संस्कृति को समृद्ध एवं विकसित किया था। यही कारण है कि अनेक मनोहर जिन-मंदिरों, तीर्थङ्कर प्रतिमाओं, अन्य परमेष्ठियों तथा देवी देवताओं, मूर्तियों, जैन प्रतीकों एवं पौराणिक दृश्यों के प्रस्तराङ्कनों और अन्य जैन कलाकृतियों के साथ ही साथ अन्य सम्प्रदायों के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ एवं धर्मायतन भी पाये जाते हैं। सप्तमातृका देवियों की मूर्तियाँ तो अनेक यत्र तत्र मिलती हैं, इन देवियों की मान्यता जैन और वैष्णव दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती है। इनके अतिरिक्त नाहर एवं राजघाट की कतिपय गुफाओं में जिनमें से एक सिद्ध गुफा कहलाती है; स्पष्टतः हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। एक में शिवलिंग स्थापित है। एक में सूर्य भगवान और गणेश की मूर्तियाँ हैं। एक स्थान में पंच पाडव उत्कीर्ण हैं दुर्ग के नीचे एक ओर वराहवतार का भग्न प्राचीन मंदिर तथा उक्त देव की खंडित मूर्ति विद्यमान है। हिन्दू कला-कृतियों में सर्वाधिक आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण वह सुप्रसिद्ध दशावतार मंदिर है जो गुप्तकाल में निर्मित हुआ अनुमान किया जाता है। श्री माधवस्वरूप वत्स के मतानुसार यह मंदिर उत्तर भारत में प्रचलित पंचरत्न शैली का सर्वप्राचीन उपलब्ध उदाहरण है। इस समय वह अत्यन्त जीर्ण शीर्ण दशा में है फिर भी उसके अवशेष उसकी अनुपम स्थापत्य एवं मूर्त्तकला का परिचय देने के लिये पर्याप्त है। स्मिथ-आदि कलामर्मज्ञों के मत से इस मंदिर के प्रस्तराङ्कनों में कई एक ऐसे हैं जो भारतीय मूर्त्तिकला एवं रूप शिल्प के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। मंदिर की दीवारों पर अंकित लक्ष्मी द्वारा पदचारित अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति

गजेन्द्र मोक्ष का दृश्य, नरनारायण की मूर्ति, रामायण और महाभारत के अनेक भावपूर्ण दृश्य अत्यन्त कलापूर्ण और मनोहारी हैं। कलाकार ने मूर्तियों की भावभंगी दर्शाने में, उनके अलङ्कार विशेष कर परिछेद रत्नों के अङ्कन में तथा उत्कीर्ण शक्तियों के क्रियाकलापों को गतिमान एवं सजीव बना देने में अपनी कला की पराकाष्ठा कर दिखाई है। इस मंदिर के कलात्मक प्रस्तर फलकों ने ही कलामर्मज्ञों एवं पुरातत्त्वज्ञों का ध्यान देवगढ़ की ओर सर्वाधिक आकृष्ट किया है। देवगढ़ के उपरोक्त हिन्दू धर्मायतन और कलाकृतियाँ इस तथ्य के परिचायक हैं कि यह स्थान किसी समय जैन एवं हिन्दू धर्म तथा संस्कृतियों का प्रमुख सम्मिलन स्थल था। दोनों ही परम्पराओं के अनुयायी यहाँ सद्भाव एवं सहयोगपूर्वक फले फूले थे और दोनों ने ही भारतवर्ष के सांस्कृतिक भंडार को समृद्ध करने में अभूतपूर्व योगदान दिया था।

शिलालेखीय सामग्री की भी देवगढ़ में प्रचुरता है। उत्तर भारतीय पुरातत्त्व विभाग की सन् १६१८ ई० की वार्षिक रिपोर्ट में इस स्थान से प्राप्त लगभग ३०० शिलालेखों की सूचना हुई थी। उसके बाद भी लगभग एक सौ और लेख दृष्टिगोचर हुए हैं। फिर भी देवगढ़ में तथा उसके आस पास जगह जगह यत्र तत्र बिखरी हुई खंडित अखण्डित अनेक जैन प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण सभी लेखों का अभी तक संग्रह और सूचना नहीं हो पायी है। रिपोर्ट में सूचित लेखों में से लगभग डेढ़ सौ लेख ऐतिहासिक महत्त्व के हैं, कुछ एक तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उपलब्ध लेखों में अधिकांश जैन लेख हैं, और लगभग साठ लेख ऐसे हैं जिनमें उनके अंकित किये जाने की तिथि का भी उल्लेख है। ये लेख प्रायः वि० सं० ६१६ से १८७६ पर्यन्त के हैं। ये शिलालेख न केवल देवगढ़ के तत्कालीन जैनधर्मावलम्बियों के धार्मिक जीवन सामाजिक संगठन तथा तत्सम्बन्धी इतिहास ज्ञान के लिये ही उपयोगी नहीं हैं वरन् भारतवर्ष के सामान्य राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर पुष्कल प्रकाश डालते हैं। साथ ही नागरी अक्षरों एवं लिपि के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिये भी ये लेख अत्यधिक उपयोगी हैं।

प्रमुख शिलालेखों में समय और महत्त्व की दृष्टि से दशावतार मंदिर का वह खंडित लेख सर्व प्रथम है जो रा० ब० दयाराम साहनी ने यहाँ सन् १६१७ में देखा बताया गया है और जिसके अनुसार किन्हीं भगवत् गोविन्द ने उक्त मन्दिर के कार्यार्थ केशव के लिये एक स्तम्भ प्रदान किया था। अनुमान किया जाता है कि ये भगवत् गोविन्द सम्भवतया गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कनिष्ठ पुत्र तथा सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के अनुज महाराजकुमार परम भागवत गोविन्दगुप्त थे। इसी लेख के आधार पर उक्त मंदिर का निर्माण काल ५ वीं ६ ठी शताब्दी ई० माना जाता है और इस मंदिर को गुप्तकालीन कहा जाता है। दूसरा लेख नाहरघाटी की एक गुफा से प्राप्त हुआ है और सं० ६०८ (सन् ५५२ ई०) का बताया जाता है। इसमें सुदर्शन स्वामिभट्ट का उल्लेख है। यह लेख भी गुप्तकालीन है। इनके

उपरान्त कन्नोज के गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज नाम के प्रपौत्र और नागावलोक या नागभट्ट द्वितीय के पौत्र महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भोजदेव के समय का जैन स्तम्भलेख है। इस लेख के अनुसार उक्त सम्राट् के पंच महाशब्द प्राप्त महासामन्त श्री विष्णुराम के शासन में आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव ने इस लुअच्छगिरि के प्राचीन शान्त्यायतन (शान्तिनाथ के मंदिर) के निकट गोष्ठिक वाजुआगगा द्वारा मानस्तम्भ निर्माण कराकर विक्रम संवत् ६१६ शककाल ७८४ की आश्विन शुक्ल चतुर्दशी बृहस्पतिवार को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में प्रतिष्ठापित किया था।

अपने ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्व के अतिरिक्त सन् ८६२ ई० के इस अभिलेख की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विक्रम एवं शक दोनों ही संवतों के एक साथ उल्लेख का प्राय: सर्व प्राचीन उदाहरण मिलता है। उत्तर भारत में स्थित देवगढ़ में विक्रम संवत् का ही प्रचलन था, किन्तु उक्त स्तम्भ के प्रतिष्ठापक आचार्य दक्षिण भारत के निवासी रहे प्रतीत होते हैं, अत: लेख में उन्होंने दोनों ही संवतों का उल्लेख कराना उचित समझा। और संयोग से इतिहासकारों के लिये उक्त दोनों संवतों के परस्पर सम्बन्ध एवं अन्तर का एक प्राचीन स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत कर दिया। यह लेख देवगढ़ से प्राप्त स्पष्ट तिथि युक्त लेखों में सर्व प्राचीन है। शान्तिनाथ के इसी मंदिर की उत्तरी दालान में एक ज्ञानशिला अंकित है। यह विचित्र शिलालेख अठारह विभिन्न भाषाओं एवं लिपियों में उत्कीर्ण है। प्राचीन ब्राह्मी लिपि से लेकर पूर्वमध्यकालीन विभिन्न आर्य एवं द्राविड़ लिपियों तथा भाषाओं का इसमें समावेश है। हाँ, तुर्की, अरबी, फारसी आदि भाषाओं या लिपियों का इसमें कोई चिन्ह नहीं है, अत: यह लेख मुसल्मानों के भारत प्रवेश से पूर्व का ही होना चाहिये। कहा जाता है कि आदि तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ने उक्त अठारह लिपियों का सर्व प्रथम आविष्कार किया था। इसी मंदिर के निकट एक अन्य जैन मंदिर में ११-१२ वीं शती की लिपि में एक लेख है जिसमें एक दानशाला के बनाये जाने का वर्णन है।

राजघाटी पर एक शिलालेख संवत् ११५४ (सन् १०९७ ई०) का चन्देलनरेश कीर्त्तिवर्मन के मन्त्री वत्सराज का है जिसमें उसके द्वारा यहाँ एक दुर्ग बनवाने तथा इस स्थान का नाम कीर्त्तिगिरि रखने का उल्लेख है। सन् ११०७ के एक शि० ले० में एक जैन मंदिर के निर्माण का वर्णन है। सन् १२८८ के शि० ले० में राजा वीर द्वारा गढ़कुण्डार की विजय का उल्लेख है। सन् १४३६ ई० के शि० ले० से किन्हीं सिंघई द्वारा एक जैन मन्दिर के निर्माण कराने का पता चलता है। इससे बुन्देलखंड के जैनियों की सिंघई जैसी पदवी की प्राचीनता भी सिद्ध होती है और यह भी पता चलता है कि मुसल्मानी शासनकाल में भी देवगढ़में जैन मन्दिर बनते रहे और यहाँ जैनियों की अच्छी बस्ती बनी रही। इस लेख के उपरान्त समय के भी अनेक

जैन मूर्ति एवं शिलालेख यहाँ प्राप्त हुए हैं। अन्तिम लेख वि० सं० १८७६ (सन् १८१९ ई०) का है। इस समय यह स्थान बुन्देलों से छिनकर मरहठा सरदार सिंधिया के अधिकार में आ चुका था।

सन् १९१८ ई० की पूर्वोक्त राजकीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में सूचित जैन शिलालेखों में जिन विभिन्न जैनाचार्यों, साधुओं, विद्वानों, श्रावक श्राविकाओं, राजा महाराजाओं आदि के नाम आये हैं वे इस प्रकार हैं—जैनाचार्य कमलदेव, श्रीदेव, शुभदेव, वीराचार्य, वीरनंदि, गुणनन्दि, माननन्दि, धर्मनन्दि, प्रसिद्ध व्याख्याता माघनन्दि, लोकनन्दि, आचार्य जयकीर्ति, यशःकीर्ति, सकलकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, त्रिभुवनकीर्ति, महीचन्द्र, आचार्य नागसेन, माधवचन्द्र, अजित सिंह, सुरत सिंह, आदि।

आर्यिकाएँ—धर्मश्री, इन्दुश्री, नवासी आदि।

विद्वान्—पं० अजित सिंह, पं० ललित सिंह, पं० शुभङ्करदेव, पं० लालदेव, पं० माधवनन्दि आदि। इनमें से कुछ एक भट्टारक या भट्टारकीय पंडित भी हो सकते हैं।

श्रावक—महीन्द्रसिंह, साहसिंह, श्रीसिंह, अलमेव, नेमिचन्द्र, विम्ब या इन्द्र, जुगराज, रामपाल, प्रभाकर, चन्दन, सावदेव और उसका पुत्र कल्याणसिंह, पाहल और उसका पौत्र वैशाख गोष्ठिक वाज या भानु और उसका भाई गंगा या गङ्ग, शिवदेव, वैशाख और उसका पुत्र गोमिल, नन्दे सिंघई, आदि।

श्राविका—सावित्री, सजाली, जुगराज की पत्नी सवश्री, रामपाल की पत्नी लखनासारी, लालता, सदिया, श्रीमती और उसकी भगिनी धनिया, आदि।

शासकगण—महाराजाधिराज भोजदेव, महासामन्त श्री विष्णुराम, महासामन्त उदयपाल, महाराजाधिराज उदयसिंह पालीगढ़नरेश, महाराजाधिराज देवीसिंह और उनके पुत्र दुर्गासिंह, उदोतसिंह, पृथ्वीपाल, कुशलसिंह, तेजसिंह आदि।

इन लगभग सत्तर नामों में कई नाम ऐसे हैं जो कई बार आये हैं। उल्लिखित राजा महाराजाओं, सामन्तों आदि में से कई ऐसे हो सकते हैं जो जैनधर्म के भक्त रहे हों। इस सूची में त्यागी और गृहस्थ सभी वर्गों के स्त्री पुरुषों के नाम हैं। इससे विदित होता है कि देवगढ़ चिरकाल पर्यन्त एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहा है जिसके धार्मिक वातावरण को प्रोत्साहित करने और सांस्कृतिक समृद्धि को बढ़ाने में जैनों के समग्र चतुर्विध संघ का स्तुत्य योगदान रहा है। देवगढ़ के उदार जैनधर्म का उपयोग सभी वर्गों के स्त्री पुरुष समान भाव से करते थे। देवगढ़ की उपरोक्त यशस्वी नामों द्वारा निर्मित चित्ताकर्षक एवं बहुमूल्य कलाकृतियाँ उनकी धार्मिकता, दानशीलता, विद्वत्ता, कलाप्रियता एवं लौकिक समृद्धि की भी परिचायक हैं।

इस प्रकार अपने आकर्षक प्राकृतिक वातावरण एवं भौगोलिक स्थिति, अगणित अप्रतिम कलाकृतियों, सैकड़ों ऐतिहासिक शिलालेखों, धार्मिक प्रेरणाओं, आदि के लिये देवगढ़ सामान्य दर्शकों, कलाप्रेमियों, पुरातत्त्वज्ञों, इतिहास के विद्यार्थियों तथा धार्मिक जनसाधारण सभी के लिये एक दर्शनीय एवं अध्ययनीय स्थल है। प्राचीन भारत का वैभव देवगढ़ आज भी भारतीय राष्ट्र का गौरव है। किन्तु इस अपूर्व स्थान के स्मारकों, पुरातत्त्वावशेषों एवं कलाकृतियों आदि के समुचित संरक्षण, सुरक्षा, जीर्णोद्धार एवं खोज शोध और अध्ययन की दिशा में शासन एवं राज्य द्वारा ही नहीं स्वयं जैन समाज द्वारा भी जो कुछ कार्य अभीतक हुआ है वह नितान्त अपर्याप्त और असन्तोषजनक है। इस दिशा में अभी बहुत कुछ और व्यवस्थित ढंग से किये जाने की आवश्यकता है अन्यथा अन्य अनेक स्थानों की भाँति हमारा यह महत्त्वपूर्ण निधिकोष भी विकराल काल के विनाशकारी जबड़ों में शनै शनै विलीन होता चला जायगा।



महावीर संवत्

[श्री पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री]

'जैन सिद्धान्त भास्कर' भाग २१, किरण २ में 'महावीर संवत्' शीर्षक लेख 'भास्कर' के सहयोगी सम्पादक मित्रवर पं० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में बताया गया है कि गौतम बुद्ध की मृत्यु भगवान् महावीर के निर्वाण लाभ के १४ वर्ष पहले हुई थी। शास्त्री जी ने अपनी इस बात के समर्थन में बौद्ध ग्रंथ 'दीघनिकाय' के प्रकरण को उद्धृत कर अपनी बात को यों स्पष्ट किया है। "मंत्री वैदेही पुत्र, मगधपति राजा अजात शत्रु से बोला—'महाराज, ये निर्ग्रंथ नातपुत्त आगये य संघ और गण के स्वामी हैं, गण के आचार्य और प्रख्यात कीर्तिमान् तीर्थकर हैं सज्जन मान्य और बहुत लोगों के श्रद्धास्पद होने के उपरान्त ये चिर दीक्षित और अवस्था में अधेड़ हैं।' इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि अजात शत्रु के राज्य के प्रथम वर्ष में ही भगवान् महावीर का आगमन मान लिया जाय तो उस समय बुद्ध की अवस्था ७२ वर्ष की ठहरती है क्योंकि अजात शत्रु के राज्यत्वकाल के ८ वें वर्ष में वे ८० वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इस प्रसंग में महावीर को अधेड़ कहा गया है। अतः इससे स्पष्ट है कि महावीर की अवस्था उस समय ५० वर्ष की रही होगी। 'दीघनिकाय' के उल्लेखानुसार भगवान् महावीर का निर्वाण अजात शत्रु के राज्यकाल के २२ वें वर्ष में हुआ, क्योंकि इनकी संपूर्ण आयु ७२ वर्ष की थी। इस हिसाब से बुद्ध के निर्वाण के लगभग १४ वर्ष पीछे महावीर का निर्वाण हुआ होगा।"

परन्तु बौद्ध ग्रंथ 'सत्त्रियसुत्त' में सत्त्रिय नामक एक परिव्राजक का उल्लेख आया है। उसमें लिखा है कि एक बार उस परिव्राजक ने निर्ग्रंथ निगंठ नातपुत्त महावीर आदि तत्कालीन छह शास्ताओं से कतिपय प्रश्न पूछे और जब उनसे उक्त प्रश्नों का समुचित उत्तर सत्त्रिय को नहीं मिला, तब उसने गौतम बुद्ध के पास जाकर उनसे पूर्वोक्त उन्हीं प्रश्नों का जवाब मांगा। इस प्रकरण में उपर्युक्त महावीर आदि छह शास्ताओं को जिण्णा, बुद्धा, महल्लका, अद्धगता, वयो अनुप्पत्ता और थेरा ये ६ विशेषण दिये गये हैं। इसी प्रकार बुद्ध के लिये 'समणो हि गोतमो दहरो चेव जातिया नवो च पब्बज्जाय' कहा है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि श्रमण गौतम उन शास्ताओं से अवस्था में छोटे और प्रव्रज्या में उनसे नवीन थे। इतना ही नहीं, इससे यह भी निःसन्देह स्पष्ट होता है कि बुद्ध और महावीर समकालीन और बुद्ध महावीर से अवस्था एवं आश्रम में कम से कम १०-२ वर्षों के लिये छोटे थे।

इसी प्रकार पूर्वोक्त सुत्त में महावीर की तरह बुद्ध भी 'भगवा सत्थो, यसो, गणाचारिया, तित्थकरा, साधुसम्मता बहु जनस्स, आदि सम्मान सूचक शब्दों के द्वारा स्मरण किये गये हैं।

साथ ही साथ सूत्र के प्रारंभ में गौतम बुद्ध को स्पष्ट भगवा (भगवान्) कहा है। इसने यह अनुमान लगाना भी नियुक्तिक नहीं है कि बुद्ध इससे कुछ समय पूर्व ही सद्‌बोधिज्ञान को प्राप्त करके श्रमण अवस्था में धर्मोपदेश देना प्रारंभ कर चुके थे।

बौद्ध ग्रंथ का यह मंतव्य या उल्लेख शास्त्री जी के द्वारा उपस्थित किये गये पूर्वोक्त मंतव्य का प्रतिस्पर्शी है। ऐसी परिस्थिति में गौतम बुद्ध की मृत्यु भगवान् महावीर के निर्वाणलाभ के २४ वर्ष पहले हुई थी यह बात विचारणीय है। बल्कि इसके लिये पुष्ट प्रमाणों को संग्रह करने की नितांत आवश्यकता है।

भगवान् महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण से १८ वर्ष पूर्व हुआ था, इस अपनी बात को पुष्ट करने के लिये शास्त्री जी ने एक और उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है।

"डा० विनसेंट स्मिथ ने 'पासादिक सुत्तन' के एक उल्लेख से महात्मा बुद्ध की जीवित दशा में महावीर का निर्वाण होना स्वीकार किया है परन्तु इस सम्बन्ध में 'भगवती सूत्र' से एक प्रकाश मिलता है। बताया गया है कि मंखलिगोशालक ने महावीर के ऊपर तेज लेश्या का प्रयोग किया था, जिससे जनता ने भ्रमवश उन्हें अस्वस्थ समझा और उनके दर्शन के लिये लोग गये। जब जनता मेंडियाग्राम के निकट पहुची तो बालुकाकच्छ के पास तपश्चरण करते हुए महावीर के शिष्य सिंह मुनि का ध्यान टूट गया और प्रभु महावीर की अनिष्ट की आशंका से वह रो उठा, जिससे जनता में महावीर के निर्वाण का असत्य समाचार फैल गया। यही समाचार बुद्ध तक उनके शिष्य आनंद ने पहुँचाया, इसीका उल्लेख 'पासादिक सुत्तंन' में है। अतः यह स्पष्ट है कि भ० महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण से १४ वर्ष पूर्व हुआ और तभी से यह संवत् प्रचलित है।

शास्त्रीजी के द्वारा ऊपर उद्धृत भगवतीसूत्र के उल्लेख में मंखलि गोशालक के द्वारा महावीर के ऊपर तेजलेश्या का प्रयोग किया जाना उससे भ्रमवश महावीर को अस्वस्थ समझ कर उनके दर्शन के लिये लोगों का जाना, लोगों के मेंडिय ग्राम के निकट पहुँचने पर बालुकाकच्छ के पास तपश्चरण करनेवाले महावीर के शिष्य सिंहमुनि का ध्यान टूट जाना, प्रभु महावीर के अनिष्ट की आशंका से सिंहमुनि का रो उठना और इससे जनता में महावीर के निर्वाण का असत्य समाचार फैलना आदि बातों में सहसा विश्वास नहीं जमता।

क्या एक सामान्य तपस्वी मंखलिगोशालक के द्वारा दीर्घतपस्वी, अप्रतिहतशक्तिधारी, तेजःपुञ्ज सर्वज्ञ भगवान् महावीर के ऊपर तेजलेश्या का प्रयोग किया जाना सम्भव है? महावीर पर किया हुआ गोशालक का वह प्रयोग जैन सिद्धान्तानुसार क्या फलकारी हो सकता है? इससे महावीर को अस्वस्थ समझनेवाले लोगों में कोई भी विचारशील व्यक्ति नहीं रहा होगा? बालुका-कच्छ के पास तपश्चरण करनेवाले महावीर के शिष्य सिंहमुनि का ध्यान टूट जाना, प्रभु

महावीर के अनिष्ट की आशंका से मुनि का रो उठना और इससे जनता में महावीर के निर्वाण का असत्य समाचार फैलना आदि बातें भी इसी तरह मन में नहीं बैठती। मान लीजिये यही असत्य समाचार बुद्ध तक उनके शिष्य आनन्द ने पहुँचाया। क्या बड़े समय के बाद ही सही, बुद्ध को सही समाचार नहीं मिला होगा ? बाद जब उन्हें सत्य समाचार मिला तो वे पूर्वश्रुत असत्य समाचार को अपने सूत्र में कैसे स्थान देते ?

अब शास्त्रीजी के द्वारा उल्लेखित 'पासादिकसुत्त' के पद्य को उद्धृत करना भी आवश्यक है। बल्कि यह पद्य इस सूत्र में ही नहीं, 'सामगाम' सूत्र में भी ज्यों का त्यों मिलता है। पद्य यह है—

एक समयं भगवा सक्केसु विहरति वेधञ्ञा नाम सक्या तेसं अम्बवने पासादे। तेन खो पन समयेन।
निगण्ठो नातपुत्तो पावायं अधुना कालकतो होति ॥'

अर्थात्—एक समय भगवान् बुद्ध जब शाक्य नगर में विहार कर रहे थे, तब निगंठ नातपुत्त—महावीर के उसी समय पावापुर में निर्वाण प्राप्त करने की सूचना उन्हें मिली। इस पद्य से महावीर बुद्ध के जीवन काल में ही पावापुर में निर्वाण को प्राप्त हुए थे यह बात निःसंदेह सिद्ध होती है। पद्य का अर्थ स्पष्ट है। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पद्य का यही अर्थ लगाया है। इसलिये शास्त्रीजी से साग्रह अनुरोध है कि वे इस विषय पर फिर एकबार विचार करें।

एक बात और है। भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र, पूज्यपादकृत निर्वाणभक्ति, सकलकीर्तिकृत वर्धमान चरित्र और आशाधरकृत क्रियाकलापमाला आदि में भगवान् महावीर का निर्वाण कार्तिक अमावस्या की रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वातियोग में हुआ बतलाया है। किन्तु वीरसेनकृत धवलाटीका, गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, असगकृत वर्धमान चरित्र और श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण में भगवान् का यही निर्वाण कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वातियोग [illegible] कहा है। अब यह शंका उठती है कि वस्तुतः महावीर का निर्वाण अमावस्या में हुआ है या चतुर्दशी में ? कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अंतिम प्रहर में जबकि अमावस्या का आरंभ हो चुका था। स्वातिनक्षत्र का योग रहता तो इस शंका के लिये स्थान ही नहीं था। इस विषय में मित्रवर श्रीमान् गोविन्द पै का कहना है कि निर्वाणतिथि को अमावस्या मानने पर ही स्वाति नक्षत्र का योग मिलता है और वह शुभ मुहूर्त ई० पू० ५२७ सितम्बर १३ सोमवार को आया था। इसके पूर्व दिन चतुर्दशी की रात्रि अर्थात् सितम्बर १२ आदित्यवार की रात्रि में चन्द्रमा स्वातिनक्षत्र में नहीं था। किन्तु पूर्ववर्ती चित्रा नक्षत्र में रहा। इस विषय पर खासकर शास्त्रीजी अवश्य प्रकाश डालें। क्योंकि वे ज्योतिष के ममज्ञ विद्वान् हैं। बस, आज इतना ही लिखना था।

अहिंसा और पाँच जैनाचार्य

[पं० नेमिचन्द्र शास्त्री]

जैनाचार्यो ने अहिंसा धर्म का जितना विस्तृत विवेचन किया है, संभवतः अन्यत्र नहीं मिलेगा। श्रावकधर्म और मुनिधर्म का विवेचन करते हुए पूर्ण अहिंसा एवं आंशिक अहिंसा के विश्लेषण के साथ, अहिंसा की मर्यादा, क्षेत्र प्रभृति बातों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ निरूपण किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में स्वामी समन्तभद्र, अमितगति, अमृतचन्द्र, आशाधर और शुभचन्द्राचार्य के अहिंसा विषयक वचनों का संकलन किया जायगा। पाठक देखेंगे कि श्रावक धर्म के निरूपण में इस विषय का साहित्य किस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। जहाँ चरित्र पाहुड, भाव संग्रह आदि ग्रन्थों में अहिंसा की व्याख्या एवं श्रावक और मुनि की पदमर्यादा के अनुसार अहिंसा की सीमारेखा निर्धारित की गयी है, वहाँ उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस धर्म की विस्तृत समीक्षाएँ भी की हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार पूज्यपाद[1], अकलंकदेव[2], विद्यानन्दी[3], प्रभृति[4] ने भी

१ प्रमादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः प्रमत्तस्य योग प्रमत्तयोग. तस्मात् स प्राणिनोदु:खहेतु वादधर्महेतु । प्रमत्तयोगादिति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाधर्मायेति ज्ञापनार्थम्। उक्तं च—वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते इति। उक्तं च उच्चालिदंमि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमणट्ठाणं। आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ णहि तस्स तण्णिमित्तो बन्धोसुहुमोवि देसिदो समये। मुच्छापरिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥ ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते। उक्तं च मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थिबन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥ इति, नैष दोष। अत्रापि प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम् तथा चोक्तम्—स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा नवावधः॥—सर्वार्थसिद्धि पृ० २३०-२३१

२ अनवगृहीतप्रचारविशेष प्रमत्तः, अभ्यन्तरीकृतेवार्थो वा, पंचदशप्रमादपरिणतो वा ··· ।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० २७५

३ हिंसा हि द्वेधा भावतो द्रव्यतश्च। तत्र भावतो हिंसा प्रमत्तयोग सन् केवलस्तत्र भावप्राणव्यपरोपणस्यावश्यंभावित्वात्। ततः प्रमत्तस्यात्मनः स्वात्मघातित्वात् रागाद्युत्पत्तेरेव हिंसात्वेन समये प्रतिवर्णनात्। द्रव्यहिंसा तु परद्रव्यप्राणव्यपरोपणं स्वात्मनो वा तद्विधायिनः प्रायश्चित्तोपदेशो भावप्राणव्यपरोपणाभावात् तदसंभवात् प्रमत्तयोग स्यात् तद्धि पूर्वकस्य यतेरप्यवश्यंभावात्।
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४६२

४ जह ते ण पियं दुक्ख, तहेव तेसि पि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पो वमिओ जीवेसु होहि सदा ॥
सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो ह सव्व सथाणं।
सव्वेसि वदगुणाणं, पिण्डो सारो अहिंसा ॥—भगवती आराधना गा० ७८०, ७६१

अहिंसा का विवेचन खोलकर किया है। इसी प्रकार भगवती आराधना मूलाचार[1] आदि में भी अहिंसा का सविस्तार निरूपण किया गया है।

स्वामी समन्तभद्र—

विक्रम संवत् की ३४ थी शती में स्वामी समन्तभद्र ने विपुल परिमाण में जैन साहित्य का प्रणयन किया है। आपने गृहस्थाचार पर रत्नकरण्ड श्रावकाचार नामक ग्रन्थ लिखा है, इसमें गृहस्थाचार का विस्तृत वर्णन है। गृहस्थ वही हो सकता है जो आठ मूल गुणों का पालन करे। मूलगुणों को धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति श्रावकपद नहीं पा सकता है। स्वामी समन्तभद्र ने पञ्चाणुव्रतों को मूलगुणों में स्थान देकर आरम्भिक श्रावक को ही आंशिक अहिंसा को सम्यक्तया पालन करने के लिए बाध्य कर दिया है। जिस प्रकार मजबूत जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति संभव नहीं अथवा गहरी मजबूत नींव के बिना दीवाल की दृढ़ता संभव नहीं उसी प्रकार अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणुव्रत के पालन के साथ मद्य मांस और मधुत्याग[2] किये बिना गृहस्थ की स्थिति संभव नहीं। अहिंसक और सात्त्विक होने पर ही व्यक्ति यथार्थ में गृहस्थ होता है। जो दयालु है समस्त जीवों के प्रति जिनके हृदय में अपनत्व की भावना जाग्रत हो गयी है, ऐसा व्यक्ति ही धर्म के उपदेश को सुनने का अधिकारी है। अहिंसा धर्म का पालन करनेवाला श्रावक अपनी इच्छा और वासनाओं को भी संयमित बनाता है तथा इस धर्म के पालने के लिए झूठ, चोरी, कुशील और अधिक संचय की वृत्ति का त्याग करता है। प्राणिमात्र के साथ उसकी सहानुभूति और मित्रता हो जाती है।

स्व को पहचानने तथा आत्मानुभूति में दर्शनमोहनीय का उदय अधिक बाधक है। जब आत्मा में सम्यक्त्व—स्वस्वरूप का विश्वास हो जाता है तो आत्मा धर्म की ओर प्रवृत्ति करने लगती है। अहिंसा पर विश्वास भी तभी होता है जब आत्मा में दर्शनमोह के उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर धर्म धारण की योग्यता उत्पन्न हो जाय। स्वामी समन्तभद्र ने इसी कारण सबसे प्रथम श्रावक को सम्यग्दृष्टि बनने पर जोर दिया है। पाप के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अति संचय या अमर्यादित संचय का त्याग करना चारित्र बताया है।

अहिंसाणुव्रत

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥—रत्न० श्लो० ५३

---

१ पुढविकायादिकाया पंचविधा वज्जमोहणा सम्म।
ण खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ॥—मूलाचार पंचाचार अ० गा० २८६

२ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥—रत्न श्लो० ६६

अर्थ—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से सङ्कल्प कर त्रसहिंसा—द्वीन्द्रियादि जीवों की हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।

इस व्रत का समुचित पालन करने के लिए पाँच अतीचारों का भी त्याग करना आवश्यक है।

अतीचार—

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणव्यतीचाराः ।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च ॥—रत्न श्लो० ५४

अर्थ—छेदन—पशुओं या मनुष्यों के नाक, कान आदि अंगों का काटना; बन्धन—पशुओं को रस्सी आदि से बाँधना, पीडन—किसी को भी कोड़ा, लाठी आदि से पीटना, अतिभारारोपण—शक्ति से अधिक बोझ लादना, और आहारवारण—आहार-पानी का रोकना अथवा समय पर आहार-पानी का न देना, ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतीचार हैं।

अमितगति—

विक्रम की ११ वीं शती में आचार्य अमितगति ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनमें श्रावकाचार प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें आचार्य ने अहिंसा धर्म का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। अहिंसा की परिभाषा, गृहस्थ के लिए अहिंसा की मर्यादा, हिंसा के कारण, देव-मंत्र-औषध आदि के लिए हिंसा का निषेध एवं अहिंसा की महत्ता का सविस्तार निरूपण किया है।

अहिंसाणुव्रत की परिभाषा—

स्थूल हिंसा के त्याग को अहिंसाणुव्रत बतलाया है। विश्व में दो प्रकार के प्राणी हैं—त्रस और स्थावर। जो गृहस्थ त्रस जीवों की हिंसा का पूर्णतया त्याग कर देता है तथा मद्य, मांस मधु और अभक्ष्य का त्यागी होता है, वही अहिंसाणुव्रत का पालन करता है। अहिंसाणुव्रत के पालन करनेवाला का संयतासंयत रूप होता है, अतः उसे इन्द्रियों के विषयों से भी विरक्ति रखनी होती है। संसार, शरीर और भोग इन तीनों से भी विरक्त होना आवश्यक है।

द्वेधा जीवा जैनैर्मतास्त्रसस्थावरप्रभेदेन ।
तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम् ॥
स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षो विशुद्धपरिणामः ।
योऽक्षविषयान्निवृत्तः सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ —अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० ४-५

अर्थ—जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीवों की रक्षा करना अहिंसाणुव्रत है। यद्यपि शक्त्यनुसार स्थावर जीवों की हिंसा का भी अणुव्रती त्यागी होता है; परन्तु पूर्णरूप से स्थावर जीवों की रक्षा करने में गृहस्थ असमर्थ रहता है। अतएव त्रस हिंसा का पूर्ण त्यागी, विशुद्ध परिणामों का धारी, इन्द्रियों के विषयों से विरक्त श्रावक देशव्रती कहलाता है।

हिंसा की परिभाषा—

प्राणी प्रमादकलितः प्राणव्यपरोपणं यत्र धत्ते ।
सा हिंसाऽकथि दक्षैर्भववृक्षनिषेकजलधारा ॥—अमि० श्रा अ ६ श्लो० २४

अर्थ—प्रमाद से युक्त होकर अन्य जीवों के प्राणों का घात करना हिंसा है। हिंसा करने से संसाररूपी वृक्ष की मर्यादा बढ़ती है—हिंसा संसाररूपी वृक्ष का सिंचन करने के लिए जल की धारा के समान है।

हिंसा के कारण और भेद—

संरंभसमारंभैर्योगकृतकारितानुमतैः ।
सकषायैरभ्यस्तैस्त्रसा सपद्यते हिंसा ॥
त्रित्रित्रिचतुः सख्यैः संरम्भाद्यैः परस्पर गुणितैः ।
अष्टोत्तरशतभेदा हिंसा संपद्यते नियतम् ॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो १२ १३

अर्थ—संरम्भ—कषाय युक्त होकर हिंसा करने का विचार करना समारम्भ—हिंसा के साधन सामग्री जुटाना आरम्भ—हिंसा करने का उपक्रम, कृत—स्वयं हिंसा करना, कारित—दूसरे से हिंसा कराना अनुमोदन—कोई हिंसा करता हो तो उसकी प्रशंसा करना मन—मन में हिंसा की भावना लाना, वचन—हिंसक वचन बोलना काम—हिंसा की क्रिया करना तथा क्रोध, मान माया और लोभ कषाय के आवेश से हिंसा करना इस प्रकार एक सौ आठ कारणों से हिंसा होती है—हिंसा के १०८ भेद हैं। प्रत्येक काय के संरभ, समारंभ, आरंभ के भेद से ये ३ तीन भेद हुए पश्चात् मन, वचन, काय इन तीन योगों से युक्त किया तो ३×३=नौ भेद हुए। इन नौ के साथ कृत कारित और अनुमोदन का संयोग किया तो ९×३=२७ भेद हुए। इनके साथ क्रोध, मान माया और लोभ कषाय का योग किया तो २७×४=१०८ भेद हुए।

हिंसा अहिंसा की व्यवस्था—

म्रियतां मा मृत जीवः प्रमाद बहुलस्य निश्चिता हिंसा ।
प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमाद हीनस्य सा नास्ति ॥—अमि० श्रा अ ६ श्लोक २५

अर्थ—हिंसा और अहिंसा की व्यवस्था प्राणों के घात या प्राणों की रक्षा के ऊपर अवलम्बित नहीं है। किन्तु जहाँ कषाय रागादि युक्त हिंसक परिणाम होते हैं, वहां अवश्य हिंसा होती है। संयम रूप प्रवृत्ति रखने पर—बचाव की भावना रखने पर सावधान व्यक्ति को प्राणी का घात हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती। उदाहरण के लिए यों कह सकते हैं कि एक व्यक्ति सावधानी पूर्वक देख देखकर चल रहा है। उसके पैर उठाने पर कोई क्षुद्र जन्तु अकस्मात् कुचल जाने से मर जाता है तो उस व्यक्ति को हिंसा का पाप नहीं लगता। इसी प्रकार एक

व्यक्ति असावधानी से मार्ग चलता है, जीवरक्षा का उसको ध्यान नहीं है, ऐसी अवस्था में किसी प्राणी का घात हो या न हो, पर उसे हिंसा का पाप लगेगा। अतः यत्नाचार—सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना अहिंसा है और अयत्नाचार—असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने का नाम हिंसा है।

मन्त्रौषधादि के लिए भी हिंसा का त्याग—

देवातिथिमन्त्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० २९
आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षात्मनो भवति रक्षा।
आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः॥—अ० ६ श्लो० ३०

किसी-किसी का मत है कि धर्म मन्त्रौषधादि के निमित्त से हुई हिंसा पाप का कारण नहीं है, किन्तु पुण्य का कारण है। आचार्य इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हिंसा त्रिकाल और त्रिलोक में कभी भी पुण्योत्पादक नहीं हो सकती है। देवी-देवताओं के नाम पर हिंसा करना, अतिथि सत्कार के लिए हिंसा करना, मन्त्र सिद्धि के लिए हिंसा करना, औषध निर्माण में हिंसा का प्रयोग करना तथा पितरों को सन्तुष्ट करने के लिए हिंसा करने से नरक गति की प्राप्ति होती है। क्योंकि जीव हिंसा करना आत्मवध और जीवरक्षा करना आत्मरक्षा है, अतएव सभी प्रकार की हिंसा का सदा त्याग करना चाहिए।

अहिंसा की महिमा—

जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यति।
चन्द्रेण विना नक्षत्रैर्हन्यन्ते तिमिरजालानि॥
तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिंसामन्तरेण सुखजनकाः।
पृथिवीं न विना दृष्टास्तिष्ठन्तः पर्वताः क्वापि॥
निघ्नानेनाहिंसामात्मधारा निपात्यते नरके।
स्वाधारां न हि शाखा छिंदानः किं पतति भूमौ॥अमि० श्रा० अ०६ श्लो० १४-१९

अर्थ—जीव दया के बिना व्रत-उपवास भी कर्मों की निर्जरा का साधन नहीं होते हैं—अहिंसा पूर्वक ही व्रतों के पालन करने का फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के बिना नक्षत्र समूह अन्धकार का विध्वंस नहीं कर सकता है, उसी प्रकार अहिंसा के अभाव में केवल व्रत-उपवास कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकते हैं। सुखोत्पादक व्रत और नियम अहिंसा के बिना कभी भी संभव नहीं है, जिस प्रकार पृथ्वी के बिना पर्वतादि की स्थिति सम्भव नहीं, उसी प्रकार अहिंसा की पृष्ठभूमि के बिना कोई भी शुभ कृत्य नहीं हो सकता है।

आत्मा का आधारभूत धर्म अहिंसा ही है, इसके अभाव में जीव नरक जाता है। जिस प्रकार जिस वृक्ष की शाखा पर बैठा हो, उसीको काटनेवाला व्यक्ति पृथ्वी पर गिरता है उसी

प्रकार समस्त धर्म और क्रियाओं का आधारस्तम्भ अहिंसा है, इसके बिना धारण किये प्राणी भी नरक जाता है।

हिंसक जीव की हिंसा करना भी अविधेय है—

पेचिद्वदन्ति मूढा हन्तव्या जीवघातिनो जीवा।
परजीवरक्षणार्थं धर्मार्थं पापनाशार्थम्॥
युक्तं तन्नैव सति हिंसकानां प्राणिनामशेषाणाम्।
हिंसाया क शक्तो निषेधने चायमानाया॥—अ० ६ श्लो० ३३,४

अर्थ—पर प्राणियों की रक्षा के लिए, पापनाश करने के लिए एवं धर्म की रक्षा के लिए हिंसक सिंहादि का घात करना विधेय है, क्योंकि हिंसक प्राणी जबतक जीवित रहेंगे तबतक हिंसा करते रहेंगे। अतः हिंसा की परम्परा को नष्ट करने के लिए दुष्ट पापी प्राणियों का घात करना अच्छा है। यह शंका या प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार सिंहादि अन्य प्राणियों का वध करने के कारण वध्य हैं, उसी प्रकार सिंहादि की हिंसा करनेवाला भी वध्य है, पुनः इसी प्रकार उसकी हिंसा करनेवाला भी वध्य हो जायगा। अतः यह परम्परा अनन्तकाल तक चली जायगी, कहीं भी शान्त नहीं होगी। अतएव हिंसक जीव भी अवध्य है अहिंसक मानव किसी की हिंसा नहीं करता है। सबके साथ प्रेम और बन्धुत्व का व्यवहार रखता है। अहिंसक प्राणी की आत्मशक्ति के प्रभाव से हिंसक प्राणियों की क्रूरता नष्ट हो जाती है, उनकी आत्मा भी अहिंसक बन जाती है। अतः अहिंसा के द्वारा ही हिंसक को अहिंसक बनाया जा सकता है। हिंसा के द्वारा हिंसक का अन्त नहीं किया जा सकता।

पापी की हिंसा भी अविधेय है—

पापनिमित्तं हि वधः पापस्य विनाशने न भवति शक्तः।
छेदनिमित्तं परशुः शक्नोति लतां न वर्द्धयितुम्॥
हिंसायां यदि घाते धर्मः समभवति विपुलफलदायी।
सुखविघ्नकरं हि गतः परजीवविघातिनां घाते॥
यस्माद्गच्छन्ति गतिं निहताः गुरुदुःखसकटां हिंसाम्।
तस्माद् ▪▪ ददतः पापं न भवति कथं घोरम्॥—अ० ६ श्लो० ३६-३८

अर्थ—पाप के लिए की गयी हिंसा पाप का मोचन नहीं करा सकती है। लता को काटने के लिए प्रयुक्त कुल्हाड़ी लता का संवर्द्धन नहीं कर सकती। यदि हिंसक जीवों की हिंसा को महान् फलदायक समझते हैं तो यह भारी भूल है क्योंकि हिंसा स्व पर सुख का विघातक होने के कारण कभी भी सुखदायक नहीं हो सकती है। अतएव हिंसक सदा नरकादि गतियों को प्राप्त करता है। पापी और हत्यारे का सुधार दण्ड या हिंसा से नहीं हो सकता है। उसका

सुधार भी सहानुभूति और सहृदयता से ही हो सकता है। आत्मा का स्वभाव अहिंसामय है, इसीके प्रयोग द्वारा पापी, दुराचारी और लंपट का सुधार या उत्थान किया जा सकता है। अहिंसा में इतनी बड़ी शक्ति है कि उसके द्वारा संसार से पाप, दुराचार को दूर भगाया जा सकता है। अत: संसार में हिंसा के द्वारा पापी का सुधार सम्भव नहीं है।

सुखी और दु:खी जीव को मारना भी वर्ज्य है—

दुःखवता भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम्।
मरणे नरके दुःख घोरतर वार्यते केन॥
सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परो धर्मः।
जीवस्य जायमाने निषेधितुं शक्यते केन॥—अ० ६ श्लो० ३९-४०
मनसा वचसा वपुषा हिंसां विदधाति यो जनो मूढ़:।
जन्मवनेऽसौदीर्घं दीर्घं पर्यटते दुःखी॥—अ० ६ श्लो० ४४

अर्थ—इसका दुःख जल्द दूर हो जाय, इसीलिए दुखी को मारने में पुण्य है, पाप नहीं। यह भी गलत है; क्योंकि मारते समय महान् संक्लिष्ट परिणाम मरने और मारनेवाले दोनों के होते हैं, जिससे नरक में जन्म लेना पड़ता है। इसी प्रकार सुखी जीवों को इस ध्येय से मारना ये अवशेष सुख का भोग अगले जन्म में करेंगे, गलत है; क्योंकि मरने और मारनेवाले दोनों के सक्लेश परिणाम होने से दोनों को कुगति की प्राप्ति होती है। जो मन, वचन और काय से हिंसा करता है, वह बहुत काल तक संसार में जन्म-मरण के कष्ट उठाता रहता है।

अहिंसाणुव्रत के अतीचार—

भारातिमात्रन्यपरोपघातच्छेदान्नपानप्रतिषेधवधाः।
अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः पञ्चापराधाः प्रतिषेधनीयाः॥—अ० ७ श्लो० ३

अर्थ—अति भारारोप—अधिक बोझा लादना, उपघात—लाठी, कोड़ा आदि से मारना, छेद—नाक-कान आदि का छेदना, अन्नपाननिरोध—अन्न जल का रोकना, और बंध—बांधना ये पंच अतीचार हैं।

अमृतचन्द्राचार्य—

अहिंसा का जितना व्यापक और व्यावहारिक विवेचन १२ वीं शती में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने किया है, उतना पूर्व या परवर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं। गृहस्थ को किस प्रकार के अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिये, उसकी अहिंसा-मर्यादा कहाँ तक रहनी चाहिये, आदि बातें इनके ग्रन्थ 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' से जानी जा सकती हैं।

हिंसा का लक्षण—

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥—पु० सि० श्लो० ४३

अर्थ—कषायरूप परिणत हुए मन वचन और काय से द्रव्य और भाव प्राणों का घात करना हिंसा है। अभिप्राय यह है कि कषायवश होकर अपने या परके भाव प्राण और द्रव्य प्राण का घात करना हिंसा है।

प्राणघात का नाम हिंसा नहीं है, अपितु रागादि का नाम हिंसा है

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥—४४

अर्थ—राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा और प्रमादादि विभावों को उत्पन्न न होने देना अहिंसा है और इन विभावों की उत्पत्ति होना हिंसा है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

अर्थ—सावधानी पूर्वक आचरण करने वाले सन्त पुरुष के रागादि भावों के बिना केवल प्राणपीड़न से हिंसा नहीं होती है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो प्रमादी जीव कषायों के वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्नपूर्वक नहीं करता है, उसके 'जीव मरे या न मरे' हिंसा अवश्य होती है। क्योंकि असावधानी और कषाययुक्त भावना का नाम हिंसा है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

अर्थ—जीव कषाय भाव सहित होने से अपने द्वारा आपको घातता है, फिर पीछे से अन्य जीवों की हिंसा हो अथवा न हो। तात्पर्य यह है कि हिंसा का अर्थ घात करना है यह घात दो प्रकार का है एक आत्मघात और दूसरा परघात। जिस समय आत्मा में कषाय भावों की उत्पत्ति होती है, उस समय आत्मघात हो जाता है, पीछे यदि अन्य जीवों की आयु पूरी हो गयी अथवा पाप का उदय आया हो तो उनका भी घात हो जाता। आयु के रहते हुए कदाचित् प्राणी की हिंसा नहीं भी हो सकती है, परन्तु कषाय भाव होने के कारण अपनी आत्मा का घात अवश्य हो जायगा।

हिंसा के त्याग क प्रतिज्ञा विना घात नहीं करने पर भी हिंसा—

हिसाया अविरमण हिंसापरिणमनमपि भवति हिसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ ४८ ॥

हिंसा दो प्रकार की होती है—अविरमणरूप और परिणमन रूप। पर घात में प्रवृत्त न होने पर भी हिंसा त्याग की प्रतिज्ञा के विना होने वाली हिंसा अविरमणरूप हिंसा कहलाती है। क्योंकि अहिंसा की प्रतिज्ञा के विना अन्तरंग में हिंसा का सद्भाव रहता है, अत: प्रतिज्ञा के अभाव में हिंसा नहीं करने पर हिंसा होती है। परघात में मन, वचन, काय से प्रवृत्त होने पर परिणमन रूप हिंसा होती है। इसमें भी प्रमाद रहता है अतएव प्रमाद को दूर करने के लिए पर जीवों की हिंसा के त्याग की दृढ़ प्रतिज्ञा होनी चाहिये।

हिंसा का कारण परिग्रह है—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ४९ ॥

अर्थ—निश्चय कर आत्मा पर वस्तु का कारण नहीं है, अत: सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती है। फिर भी परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के कारण परिग्रह का त्याग करना उचित है। तात्पर्य यह है कि रागादि कषाय भावों का होना हिंसा है, पर वस्तु का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु रागादि परिणाम परिग्रह के निमित्त से होते हैं, अतः परिणामों की विशुद्धि के लिए परिग्रह का त्याग करना आवश्यक है।

कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध हैं, इसलिए बाह्य आरम्भ—हिंसा करते हुए तथा परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता, यह ठीक नहीं है। परिग्रह आदि के कारण परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रह सकते; क्योंकि उसके ये सब कार्य बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करने से ही होते हैं। इसी भाव को आचार्य ने बतलाया है—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ ५० ॥

अर्थ—जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूप को न जानकर उसको ही निश्चय श्रद्धान से अंगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण को नष्ट करता है।

हिंसाफल की व्यवस्था—

अविधायापि हिंसा हिंसाफलभुग् भवत्येक.।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिसके परिणाम हिंसा रूप हो गये हैं ऐसा जीव हिंसा न करके भी हिंसा का फल भोगने का पात्र होता है। परिणामों में हिंसा न आने पर हिंसा करके भी जीव हिंसा का फल भोगने का पात्र नहीं होता।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥ ५२॥

अर्थ—एक व्यक्ति थोड़ी हिंसा करके अधिक तीव्र परिणामों के कारण उदयकाल में अधिक फल प्राप्त करता है और दूसरा व्यक्ति बड़ी भारी हिंसा करके भी परिणामों की निर्मलता के कारण उदयकाल में स्वल्प फल को पाता है।

कषायों की तीव्रता और मन्दता के कारण फलव्यवस्था—

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥ ५३॥

दो आदमी मिलकर हिंसा करें तो जिसके परिणाम तीव्र कषाय रूप हुए हैं, उसे उदयकाल में अधिक फल और जिसके परिणाम मन्दकषाय रूप हैं, उसे अल्पफल भोगना पड़ता है।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन॥ ५४॥

किसी को हिंसा करने के पहले ही, किसी को करते समय, किसी को हिंसा कर चुकने पर, किसी को हिंसा आरम्भ करने पर और किसी को हिंसा न करने पर अपने कषायभावों की तीव्रता या मन्दता के कारण फल प्राप्त होता है।

एक हिंसा करता है फल अनेक पाते हैं और अनेक हिंसा करते हैं फल एक पाता है—

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः॥ ५५॥

एक व्यक्ति हिंसा करता है, पर फल भोगनेवाले अनेक होते हैं, इसी प्रकार हिंसा बहुत से व्यक्ति करते हैं, पर फल एक व्यक्ति को मिलता है। तात्पर्य यह है कि जीव को मारते देखकर जो अच्छा कहते हैं और प्रसन्न होते हैं वे सभी हिंसा के फल भागी हैं इससे एक करता है और अनेक फल भोगते हैं। इसी प्रकार संग्राम में हिंसा तो अनेक करते हैं, परन्तु उनको आज्ञा देने वाला सेनापति या अन्य स्वामी उसके फल का भागी होता है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥ ५६॥

किसी पुरुष को तो हिंसा उदयकाल में एक ही हिंसाफल को देती है और किसी को वही हिंसा बहुत से अहिंसा के फल को देती है।

हिंसा द्वारा अहिंसा फल और अहिंसा द्वारा हिंसा फल—

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ५७ ॥

किसी को अहिंसा उदयकाल में हिंसा के फल को देती है तथा अन्य व्यक्ति को हिंसा अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल को नहीं। अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति किसी जीव के बुरा करने का यत्न कर रहा हो, परन्तु उस जीव के पुण्योदय से कदाचित् बुरे की जगह पर भला हो जाय, तो भी बुराई का यत्न करने वाला बुरा फल प्राप्त करेगा। इसी प्रकार कोई डाक्टर किसी रोगी का आपरेशन करे, कदाचित् रोगी की मृत्यु हो जावे तो भी डाक्टर की भावना निर्मल है। अतः उसे अहिंसा का फल प्राप्त होगा।

अनेक नयों से हिंसा का स्वरूप समझ कर त्यागना—

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥ ६० ॥

तत्त्व में तत्पर पुरुष को हिंस्य—जिनकी हिंसा की जावे, ऐसे अपने या पर जीव के द्रव्य प्राण और भाव प्राण अथवा एकेन्द्रियादि जीव, हिंसक हिंसा करने वाला जीव; हिंसा प्राणपीडन या प्राणघात की क्रिया और हिंसाफल—हिंसा से प्राप्त होने वाले नरक निगोदादि फलों को विचार कर अपने शक्त्यानुसार हिंसा का त्याग करना चाहिये।

असत्यादि हिंसा रूप होने से त्याज्य हैं—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥

आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घातक होने से असत्य, चोरी आदि हिंसा रूप हैं। शिष्यों को समझाने के लिए इनका विशेष वर्णन किया गया है।

हिंसा की पर्यायें—

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥ ६४ ॥

अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, रति, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि हिंसा के पर्याय या भेद हैं। और ये सभी भाव व्यसन सेवन से उत्पन्न होते हैं।

मद्य, मांस, मधु, नवनीत और पंचोदम्बर फलभक्षण में त्रसजीवों की हिंसा होती है, अतएव

इनके भक्षण का त्याग करना परमावश्यक है। सूखे उदम्बर फल खाने में पाप नहीं मानना चाहिए आचार्य इसी का उत्तर देते हैं—

> यानि तु पुनर्भवेयु कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
> भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥ ७३॥

सूखे हुए पाँच उदम्बर फलों के भक्षण करने से राग की अधिकता रहने के कारण हिंसा होती है। तात्पर्य यह है कि अहिंसक व्यक्तियों को मदिरा, मांस, मधु और पाँच पापों का अहिंसक ही रहना चाहिए।

गृहस्थ के लिए त्याज्य हिंसा—

> धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
> स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु॥ ७५॥
> स्तोकैकेन्द्रियघातादृगृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
> शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्॥ ७७॥

जो गृहस्थ स्थावर हिंसा का त्याग करने में असमर्थ हैं, उन्हें त्रस हिंसा का अवश्य त्याग करना चाहिए। स्थावर हिंसा में भी एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त अनुपयोगी स्थावर जीवों की हिंसा का भी त्याग करना योग्य है।

धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का त्याग—

> सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
> इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः॥ ७९॥

भगवान् द्वारा निरूपित धर्म बहुत सूक्ष्म है, अतएव धर्म के निमित्त से हिंसा करने में कोई दोष नहीं है, यह मानना गलत है; क्योंकि हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकती है।

देवता के लिए हिंसा करना भी पाप है—

> धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
> इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः॥ ८०॥

धर्म देवताओं से होता है, अतएव इस लोक में प्राणियों की बलि देना उचित है यह मानना भी भ्रान्त है क्योंकि प्राणियों की बलि देने से महान् पाप होता है। देव हिंसा प्रिय नहीं होते। हिंसा से कभी भी पुण्य या धर्म नहीं हो सकता है।

अतिथि के लिए हिंसा करना अनुचित है—

> पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
> इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥ ८१॥

पूज्य पुरुषों के लिए बकरा आदि जीवों का घात भी नहीं करना चाहिये क्योंकि शिष्ट पुरुष जीव हिंसा को सदा पाप समझते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि शाक तथा अन्न के भक्षण करने की अपेक्षा एक जीव का मांस भक्षण करने में अल्प पाप है; क्योंकि जीव जीव समान है। अतएव अनेक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा न कर एक त्रसजीव का घात करना ज्यादा अच्छा है। आचार्य इसी शंका का समाधान करते हैं।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु॥ ८२॥

बहु प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है, यह मानना मिथ्या है। अतः विचारशील व्यक्तियों को हिंसा नहीं करनी चाहिए। कारण स्पष्ट है कि अन्तरंग ज्ञान प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणों के घात की अपेक्षा एकेन्द्रिय की हिंसा से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि की हिंसा में असंख्यात गुणा पाप और निर्दयता है।

दुष्ट जीव को मारने में हिंसा—

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्॥ ८३॥

सर्प, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जीवों की भी इस अभिप्राय से हिंसा नहीं करनी चाहिये कि इन दुष्ट जीवों के मर जाने से सहस्रों की रक्षा होगी, क्योंकि जो हिंसा करता है, वही उसके पाप का भागी होता है। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा करके व्यर्थ पाप का अर्जन नहीं करना चाहिए।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥ ८४॥

बहु घाती जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप करेंगे, ऐसा सोचकर हिंसक जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिये।

दुःखी जीव को मारना भी पाप है—

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥ ८५॥

रोग अथवा दारिद्र्य आदि पीडित दुःखी जीवों की हिंसा भी इस अभिप्राय से नहीं करनी चाहिये, कि घात करने से ये दुःख से छूट जायेंगे। क्योंकि शरीर त्याग करने से कोई भी जीव दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता है। बल्कि संक्लिष्ट परिणामों से मृत्यु होने पर अधिक पाप का बन्ध होता है तथा मारने वाले को भी पाप बन्ध होता है।

अगले जन्म में सुख प्राप्त होगा, इस उद्देश्य से सुखी को भी नहीं मारना

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥ ८६॥

सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है इसलिए मारे हुए सुखी जीव सुखी ही होंगे इस कुतर्क का आश्रय लेकर सुखियों का घात नहीं करना चाहिये।

समाधिस्थ की हिंसा करना भी वर्जित है—

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ॥ ८७ ॥

सत्य धर्म के अभिलाषी शिष्य द्वारा अधिक अभ्यास से ज्ञान और सुगति प्राप्त करने में कारण समाधि प्राप्त करनेवाले गुरु का शिरश्छेदन नहीं करना चाहिये क्योंकि शिर छेदन करनेवाला प्राणपीड़ा जनित हिंसा का भागी होगा।

हिंसा करने से कदाचित् सुख प्राप्त हो तो भी हिंसा त्याज्य है—

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥ ७८ ॥

किसी जीव को हिंसा करते हुए सुख साता युक्त देखकर और आपको अहिंसा धर्म पालते हुए भी दुःखी जानकर अथवा आपके अहिंसा धर्म पालने देख तथा अन्य मिथ्यादृष्टियों को हिंसा में धर्म ठहराते हुए व पुण्य करते हुए देखकर धर्मात्मा पुरुषों को विचलित न होना चाहिए। अहिंसा ही जीव के लिए समस्त सुखों को देनेवाली है।

आशाधर—

पण्डित प्रवर आशाधर जी ने अपने अनागार और सागार धर्मामृत में मुनि और श्रावक दोनों की अपेक्षा से अहिंसा धर्म का विपुल विवेचन किया है। आपने भी प्रमाद के सम्बन्ध से होनेवाले प्राणघात के त्याग पर जोर दिया है।

हिंसा की परिभाषा और व्यवस्था—

या हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रस स्थावराङ्गिनाम्।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्यभावस्वभावकाः ॥
रागाद्यसङ्गतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः।
स्यात्तद्व्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः ॥—अना० धर्मा० अ० ४ श्लो० २२ २३

प्रमत्तयोग से त्रस और स्थावर जीवों के द्रव्य तथा भाव प्राणों का, जो व्यपरोपण होता है, *उसको हिंसा कहते हैं।*

यदि जीव राग द्वेष मोह रूप परिणामों से युक्त नहीं है तो प्राणघात हो जाने पर भी अहिंसक है। राग द्वेषादि से युक्त होने पर प्राणघात न होने पर भी हिंसक होता है।

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम्।
हिंसारागाद्युत्पत्तिरहिंसा तदनुद्भवः ।—अनागार अ० ४ श्लो० २६

जिनागम का यही रहस्य या सार है कि राग-द्वेष, मोह रूप परिणामों का उत्पन्न होना हिंसा है और इनका उत्पन्न न होने देना अहिंसा है।

अहिंसाणुव्रत की परिभाषा—

शान्ताद्यष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान्।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम्॥—सागार अ० ४ श्लो० ७

अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ के शान्त—उपशम होने पर मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से जिस दयालु ने त्रस जीव की हिंसा का त्याग कर दिया है, उसके अहिंसाणुव्रत होता है।

हिंसा के चार भेद करके आशाधरजी गृहस्थ से संकल्पी हिंसा का त्याग कराते हैं।

संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी, ये चार हिंसा के भेद हैं। बिना अपराध के जानबूझ कर किसी की हिंसा करना संकल्पी, जीवन निर्वाह के लिए व्यापार, खेती आदि में होनेवाली हिंसा उद्योगी; सावधानी रखते हुए भी भोजन बनाने, पानी भरने आदि में होनेवाली हिंसा आरम्भी और अपनी या दूसरों की रक्षा के लिए जो हिंसा करनी पड़ती है, वह विरोधी कहलाती है। आशाधरजी ने प्रधानतः आरम्भी और अनारम्भी ये दो हिंसा के भेद किये हैं।

इमं सत्वं हिनस्मीति हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम्।
हिनस्तीति वदन्नाभिसन्दध्यान्मनसा गिरा॥
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने।
न च वर्तयेत्परं तत् परे नखच्छेदिकादि न च रचयेत्॥

—सागार अ० ४ श्लो० ८-९

इस जीव को मैं मारूँगा, इसे तुम मारो, इसने इसे मारा अच्छा किया आदि का मन, वचन और काय से त्याग करना चाहिये। मन्त्र, रस्सी आदि के द्वारा भी प्राणियों का बन्धन नहीं करना चाहिये तथा प्राणियों के नखादि के काटने की क्रिया भी नहीं करनी चाहिये।

अहिंसक के लिए आवश्यक व्यवहार—

इत्यनारम्भजां जह्याद्धिंसामारम्भजां प्रति।
व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद्गृही॥—सागार अ० ४ श्लो० १०

आसन, शय्या, खान-पान आदि सम्बन्धी हिंसा का उचित त्याग करना चाहिये। आरम्भजनित कार्यों में भी व्यर्थ स्थावर जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः।
भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत्॥—सागार अ० ४ श्लो० १४

अहिंसक को यत्नापूर्वक अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह रखना चाहिये, क्योंकि अधिक आरम्भ और अधिक परिग्रह हिंसा का कारण है। मनकी शुद्धि रखना तथा सदा आर्त्त और रौद्र ध्यानों से अपनी रक्षा करना आवश्यक है।

अहिंसाणुव्रत के स्वीकार की विधि—

हिंस्यहिंसकहिंसा तत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः।
हिंसां यथोत्सृजन्नेव यथा प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात्॥
प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसंचयः।—सागार अ० ४ श्लो० २ २१

हिंसा, हिंसक, हिंस्य और हिंसा फल का पूर्णतः विचार करके अहिंसाणुव्रत को स्वीकार करना चाहिए। प्रमादी होना हिंसक है, द्रव्य भाव प्राणों का धारी प्राणी हिंस्य और प्राणों का घात करना हिंसा है तथा हिंसा का फल पापसंचय करना है।

अहिंसाव्रत की निर्मलता के लिए विधेय—

कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात्।
नित्योदयां दयां कुर्यात् पापध्वान्तरविप्रभाम्॥
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत्॥—सागार अ० ४ श्लो० २३,२४

अहिंसाणुव्रत को निर्मल करने के लिए कषाय, विकथा, निद्रा, स्नेह, रात्रिभोजन एवं म[illegible] ममता का त्याग करना आवश्यक है।

शुभचन्द्राचार्य—

ज्ञानार्णव के निर्माता आचार्य शुभचन्द्रदेव ने अहिंसा व्रत का विस्तृत विवेचन किया है। ज्ञानार्णव में अहिंसा का स्वरूप और उसकी महत्ता पर पूरा प्रकाश डाला गया है।

अहिंसा की परिभाषा—

वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्तते।
चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम्॥—ज्ञानार्णव सर्ग ८ श्लो० ८

मन वचन और काय से त्रस और स्थावर जीवों के घात का सदा के लिए त्याग करना अहिंसाव्रत है।

प्रमाद से हिंसा होती है, प्राणघात से नहीं—

मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम्।
बन्ध एव न बन्धः स्याद्धिंसायाः संवृतात्मनाम्॥—ज्ञाना० सर्ग ८ श्लो० १

जीवों के मरने या जीने से प्रमादी पुरुष को निरन्तर ही हिंसा का पातक लगता है और जो पुरुष यत्न सहित अप्रमादी हैं, उनको जीवों की हिंसा होते हुए भी हिंसा का पाप का बन्ध नहीं होता।

हिंसा के भेद—

संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात्।

शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम्॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० १०

संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ इन तीनों का मन, वचन, काय की तीन-तीन प्रवृत्तियों से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों का कृत, कारित, अनुमोदना से क्रम से गुणा करने पर हिंसा के १०८ भेद होते हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायों से उत्तरोत्तर गुणा करने पर ४३२ भेद भी हिंसा के होते हैं।

अतः प्रमादमुत्सृज्य भावशुद्ध्याधिष्ठितम्।

यमप्रशमसिद्ध्यर्थं बन्धुबुद्ध्या विलोकय॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० ११

उपर्युक्त संरम्भादि हिंसा परिणामों के १०८ या ४३२ भेद हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्रमाद का त्याग कर भावशुद्धि के लिए समस्त जन्तु प्राणियों को बन्धुवत् देखना चाहिये।

हिंसा सदा दुःखदायक है—

सौख्यार्थे दुःखसन्तानं मङ्गलार्थेऽप्यमङ्गलम्।

जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति॥—ज्ञा० स० ८ श्लो २२

सुख के लिए की गयी हिंसा दुःख-परिपाटी करती है, मंगलार्थ की हुई हिंसा अमङ्गल करती है तथा जीवनार्थ की हुई हिंसा मृत्यु को प्राप्त कराती है। इस बात को निश्चय समझना चाहिये।

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित्।

कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम्॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० २७

देवता की पूजा के लिए रचे हुए नैवेद्य तथा मन्त्र और औषध के निमित्त अथवा अन्य किसी भी कार्य के लिए की हुई जीवों की हिंसा जीवों को नरक ले जाती है।

अहिंसा की महिमा—

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।

अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं।

अहिंसैव हितं कुर्यात् व्यसनानि निरस्यति॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० ३२-३३

अहिंसा जगत् की माता है, क्योंकि समस्त जीवों का प्रतिपालन करनेवाली है। अहिंसा ही आनन्द की सन्तति है, अहिंसा ही उत्तम गति एवं शाश्वती लक्ष्मी है। जगत् में जितने उत्तम गुण हैं, सब अहिंसा में ही निवास करते हैं।

अहिंसा ही मोक्ष स्वर्ग आदि के वैभव को देती है और अहिंसा ही आत्मा का हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओं को नष्ट करती है।

जैनाचार्यों ने अहिंसा पर पर्याप्त विचारपूर्वक लिखा है। उनका मत है कि आत्मा की चैतन्य शक्ति की अपेक्षा एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यंत वनस्पति जल, वायु अग्नि, पृथ्वी कीड़े मकोड़े, चींटी, मक्खी, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी जीव समान आत्मत्व रखते हैं। अतः सब आपस में भाई भाई हैं, ऐसी अवस्था में किसी भी जीव का वध करना भ्रातृवध के समान महा पापबन्ध का कारण है। झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना और अधिक संचय करना हिंसा है। अहिंसक के लिये अपने मन, वचन और काय की समस्त प्रवृत्तियों को शुद्ध रखना अत्यावश्यक है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय कषाय आदि सभी हिंसा के रूपान्तर हैं। अहिंसक को विचारों को शुद्ध रखने के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेना भी आवश्यक है तथा आहार विहार को भी पूर्ण शुद्ध बनाना रखना पड़ता है। मद्य, माँस मधु का त्याग, अभक्ष्य भक्षण का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, बिना छने जल का त्याग अमर्यादित भोजन का त्याग भी अहिंसक को करना चाहिये। समस्त प्राणियों के प्रति दयालु होना, समताभाव रखना, ईर्ष्या द्वेषादि का त्याग कर विश्वबन्धुत्व की भावना को अपनाना प्रत्येक अहिंसक का परम कर्त्तव्य है।



प्रमुख दि० जैनाचार्यों का विवरण

यह विवरण हमें पूज्य आचार्यश्री महावीरकीर्तिजी के एक गुटके में लिखा मिला है। इतिहास के परिज्ञान के लिए आचार्यों की वंशावली, उनका दीक्षाकाल, उनका समय परिज्ञान कितना महत्त्वपूर्ण होता है, यह सभी इतिहास विशारद जानते हैं। अभीतक दि० जैनाचार्यों की पट्टावलियों और वंशावलियों का अन्वेषण ऐतिहासिक दृष्टि से हुआ ही नहीं है। इस दिशा में प्रयास करने की अत्यन्त आवश्यकता है। हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रशस्तियों के दो तीन संग्रह भी दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रकाशित हो चुके हैं तथा इतिहासविज्ञ प्रेमीजी और मुख्तार सा० के कई निबन्ध संग्रह में प्रकाशित हैं। शिलालेखों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। अतः इस सामग्री के आधार पर तथा नवीन अन्वेषणों के आधार पर दिगम्बर जैनाचार्यों का एक प्रामाणिक इतिहास लिखे जाने की बड़ी भारी आवश्यकता है। साधन सामग्री इस समय वर्तमान है। आजका समय इतिहास लिखने के लिए बहुत उपयोगी है। सभी प्रकार के संभव साधन सामने प्रस्तुत हैं। अधिकांश हमारा साहित्य मुद्रित अवस्था विद्यमान है। अतएव इतिहासविज्ञों को इस ओर शीघ्र प्रयास करना चाहिए। यों तो 'दि० जैन साहित्य' का इतिहास भी वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला काशी के तत्त्वावधान में समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा तैयार हो रहा है। आरम्भ में तो इतिहास की चर्चा पर्याप्त थी, पर इधर लगभग एक वर्ष से वह चर्चा शान्त सी मालूम हो रही है। उस दिशा में कार्य शीघ्र होना चाहिए। समाज के धनिक श्रीमानों को इस आवश्यक और उपयोगी कार्य के लिए मुक्तहस्त से दान देना चाहिए। वर्णीग्रन्थमाला के अधिकारियों को भी इस ओर अधिक से अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। दि० जैन साहित्य और उसके निर्माताओं के इतिहास की अत्यन्त आवश्यकता है। बड़े से बड़े दि० आचार्य का प्रामाणिक जीवनवृत्त ऐतिहासिक ढंग से अभीतक लिखा ही नहीं गया है। अतएव इस ओर समाज का ध्यान शीघ्र ही आकृष्ट होना चाहिए।

प्रस्तुत विवरण में आचार्यों का संवत्, दीक्षातिथि, जाति, गृहस्थ वर्ष, दीक्षा वर्ष, पट्ट वर्ष, अन्तर दिन और सर्व वर्षायु दी जा रही है। इन विवरणों में कहाँ तक प्रामाणिकता है, यह तो इतिहास मनीषी ही जान सकेंगे। यदि कोई ऐतिहासिक विद्वान् आचार्यों के इन विवरणों में संशोधन प्रस्तुत करेंगे, तो भास्कर उसका भी स्वागत करेगा। अतः इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता है, जिससे इतिहास के निर्माण के लिए प्रामाणिक [illegible] प्रस्तुत की जा सके।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्टवर्ष	अंतर दिन	सर्व सर्वायु
१	४	चैत्रसुदी १४	श्री भद्रबाहु	पवाररजपूत	२४	३	२२ १० २७	३	७६ ११ ०
२	२६	फाल्गुनसुदी १४	गुप्तगुप्तिश्री	पंवार	२२	३४	६ ६ २५	५	६५ ७-०
३	३६	आश्विनसुदी १४	श्री माघन दी	जैसवाल	२०	४४	४ ४ २६	४	६८ ५ ०
४	४०	फाल्गुनसुदी १४	श्री जिनचन्द्र	चोसखा पोरवाड़	२४ ९ ०	३ ३	८ ९ ६	३	६५ ९ ९
५	४९	पौषवदी ८	श्री कुन्दकुन्द	पल्लीवाल	११	५१ १० १०	०	५	९५ १० १५
६	१ १	का० सु ८	उमा स्वामी	अग्रोत्यापुरी श्रावक	१९	२५	४ ८ १	५	८४ ८ ६
७	१४२	आषाढ़ सु० १४	लोहाचार्य	लमेंचू	२१	१८	१० १० २७	६	६९ १० २६
८	१५३	ज्येष्ठ सु० १०	यशकीर्ति	जैसवाल	१२	२१	५८ ८ १०	५	९१ ८ १५
९	२११	का० व १०	यशोनन्दि	जैसवाल	१६	१७	४६ ४ ९	४	७९ ४ १३
१०	२५८	आषाढ़ सु० ८	देवनन्दी	पोरवाल	१० ५	१५ १७ ०	४९ १० १८	४	७५ ११ २
११	३०८	ज्येष्ठ सु० १	श्री पूज्यपाद	पद्मावती पोरवाल	१५	११ ७ ०	४४ ११ २२	७	७१ ६ २९
१२	३५३	ज्येष्ठ सु ९	गुणनन्दि	गोला पूरब	१४	११ ५ ०	११ ३ १	४	४ ८ ५
१३	३६४	मा० सु० १४	जम्बूनन्दि	×	१९	१० ३	२२ ५ १	४	५७ ८ ५
१४	३८६	फाल्गुन व ४	कुमारनन्दि	सहालवाल	१६	१० २	४० २ २०	९	६६ ४ २९
१५	४२७	ज्येष्ठ व ३	लोकचन्द्र	लमेंचू	१८	१६	२६ ३ १६	१	६० ३ २६
१६	४५३	मा सु० १४	श्री प्रभाचन्द्र	पंचम श्रावक	९	२४	२५ ४ १५	१९	५८ ५ २६
१७	४७८	फाल्गुनसु १०	श्री नेमिचन्द्र	नैगम श्रावक	१	२२	८ ९ १	९	४० ९ १०

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्ट वर्ष	अन्तर दिन	सर्ववर्षायु
१८	४८७	पौष वदी ५	भावनन्दि	ईसर	११	१५	२१-७-२४	१२	४६-२-६
१६	५०८	माघ सु० ११	हरिनन्दि	श्री० मालसीकलशा	६	२१	२६-१७-१५	१४	४०-७ २६
२०	५२५	आसोज सु० १०	वसुनन्दि	नगनौरा	१०	३०	६-२-२१	६	४६-३-१
२१	५३१	पौष सु० ११	श्री वीरनन्दि	लभेंचू	६	१३	३०-०-१४	१०	५२-०-२४
२२	५६१	माघ सु० ५	श्री रत्नकीर्ति	अग्रवाल	८	१२	२३-४-७	११	४३-४-१८
२३	५८५	आषाढ़ व० ८	,, माणिक्यनन्दि	अग्रवाल	१०	१६	१६-५-१०	१५	४५-५-२५
२४	६०१	पौष व० ३	,, मेघचन्द्र	खंडेलवाल	२४-३-३६	६-७-१३	२१-५-३०	१२	५१ ६-२
२५	६२७	आसो० व० ५	,, शान्तिकीर्ति	सहलवाल	७	१०	१५-०-२५	२०	३२-१-१५
२६	६४२	श्रा० सु० ५	मेरुकीर्ति	सहलवाल	८	११	४४-३-१६	१३	६३-३-२६
२७	६८६	मगसिर सु० ४	,, महाकीर्ति	सहलवाल	६	१२	१७-११-५	१५	३५-११-२०
२८	७०४	मगसिर व० ६	,, विजयनन्दि	बागड़ा	७	१४	१२ ४-०	१५	४२ ४-१५
२६	७२६	चैत्र सु	, भूषण	सहलवाल	१४	८	६	२६	३१-०-२६
३०	७३५	वैशा० सु० ५	,, चन्द्र	सीताल	६	१२	१४-३-४	११	३२-४-५
३१	७४६	भा० सु० १०	,, नन्दकीर्ति	नागरदी	१५	२०	१५-६-४	१३	५०-६-१७
३२	७६५	चै० व० १२	, देशभूषण	श्रीमाल	१८	२४	०-६-६	७	४२-६-१३
३३	७६५	आसो० सु० १०	,, अनन्तकीर्ति	पोरवालशाखा	११	१३	१६-६-२५	१०	४३-१०-५
३४	७८१	श्रावण सुदी	,, धर्मनन्दि	नागड़ा	१३	१८	२२ ६ २५	५	५३-१०-०

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्टवर्ष	अंतर दिन	सर्वायु
३५	८०८	ज्येष्ठ सु० १५	श्री वीरचन्द्र	बघेरवाल हरसोरा	१३	२५	३२ ० ४	८	७० ० १२
३६	८४०	आषाढ़ व० १२	,, रामचन्द्र	पंचम श्रावक	८	११	३६ १० ०	६	३१ १ ०
३७	८५७	पौ सु० ३	,, रामकीर्ति	लमेंचू	१४	१६	२१ ४ २६	११	५१ ५ ७
३८	८७८	आसोज सु १०	,, अभयचन्द्र	अयोध्यापुरी श्रावक	१८	१०	१७ २७	४	४५ १ १
३९	८९७	का सु ११	,, नरचन्द्र	नेगम श्रावक	१५	२१	१८ ९	९	५४ ९ ९
४०	९१८	भादो व० ५	,, नागचन्द्र	बागड़ा	२१	१३	२२ १ ३	१०	५७ ० १३
४१	९३९	भादो सु ३	,, नैयनन्दि	हूमड़	८	१	८ ९ ११	९	२६ ९ २०
४२	९४८	आषाढ़ व ८	,, हरचन्द्र	बघेरवाल हरसोरा	८४	१४ ८ ७	२६ १ ८	८	५९ १ २१
४३	९७४	आ० सु ९	,, महीचन्द्र	धाकड़ा	१४	१० ११	१६ ६ ०	५	४२ ५ [illegible]
४४	९९	मा सु० १४	,, माघचन्द्र	पद्मावती पोरवाल	१३	२	३२ २४	९	६५ १ ३
४५	१०१३	ज्येष्ठ व २	,, लक्ष्मीचन्द्र		११	२५	१४ १ ३	१०	४९ ११ १३
४६	१०३७	आसोज सु १	,, गुणनन्दि	नागोन्ध २	१८	२	१० १० २९	१४	४८ ११ १३
४७	१०४८	भादो सु० १४	,, गुणचन्द्र	गोलापूर्व	१०	२२	१७ ८ ७	१०	४९ ८ १७
४८	१०६६	ज्येष्ठ सु० १	,, लोकचन्द्र	खण्डेलवाल	१५	३	१[illegible] ३	४	४८ ३ ७
४९	१०७९	भाद्रपद सु ८	,, श्रुतकीर्ति	सचाणु श्रावक	१३	३२	१५ ६ ६	६	६० ६ १२
५०	१०९४	चैत्र व० ५	,, भावचन्द्र		१२	२५	२ ११ [illegible]	५	५८ ० ०
५१	११११	चैत्र व ५	,, महीचन्द्र	श्रीमाली	१	२६	२५ ६ १०	५	६१ ५ १५

श्री वीसतीर्थङ्करों के नाम, चिन्ह व माता, पिता और नगरी के नाम

नं०	नाम	चिन्ह	पिता के नाम	माता के नाम	नगरी के नाम
१	श्री सीमंधरजी	वृषभ	श्रेयांस	सत्य देवी	पुण्डरीकणी
२	,, युगमंधरजी	हाथी	सुदृढरथ	सुतारा	सुसीमा
३	,, बाहुजी	मृग	सुग्रीव	विजया	अयोध्या
४	,, सुबाहुजी	कपिल	निशाढिल	सुनन्दा	अलकापुरी
५	,, सुजातकजी	सूरज	देवसेन	सेना	विजया
६	,, स्वयप्रभजी	चन्द्रमा	मित्रभूत	सुमंगला	सुसीमा
७	,, ऋषभाननजी	हरि	कीरत	वीरसेना	अयोध्या
८	,, अनन्तवीर्यजी	गज	मेघ	सुमंगला	विजया
९	,, सूर्यप्रभजी	सूर्य	नागराय	भद्रा	पुण्डरीकणी
१०	,, विशालकीर्तिजी	चन्द्रमा	विजय राय	विजया	सुसीमा
११	,, वज्रधरजी	शंख	पद्मरथ	सरस्वती	पुण्डरीकणी
१२	,, चन्द्राननजी	वृषभ	वाल्मीकि	पद्मावती	विनीता
१३	,, चन्द्रबाहुजी	पद्म	देवनन्दी	सुरेणुका	विजया
१४	,, भुजगमजी	चन्द्रमा	महाबल	महिमा	सुसीमा
१५	,, ईश्वरजी	सूर्य	गजसेन	ज्वाला	अयोध्या
१६	,, नेमिप्रभुजी	वृषभ	वीरसेन	सेना	पुण्डरीकणी
१७	,, वीरसेनजी	ऐरावत	(भुवपाल) भोपाल	सुभानमती	विजया
१८	,, महाभद्रजी	चन्द्रमा	देवराज	उमा देवी	सुसीमा
१९	,, यशकीर्तिजी	साथिया	भवभूत	गंगा देवी	अयोध्या
२०	,, अजितवीर्यजी	पद्म	सुबोध	कनका	अयोध्या

मूलसंघ भट्टारक गुरु नामावली

[श्री अगरचन्द नाहटा]

जैन इतिहास के अनेकानेक साधनों में पट्टावली, गुर्वावली, विज्ञप्तिपत्र आदि वंशावली, आचार्य परम्परा की नामावली व इतिहास को प्रकाशित करनेवाली रचनाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। वास्तव में देखा जाय तो जैन इतिहास की यह मूलभूत सामग्री है। क्योंकि भगवान् महावीर के बाद जैन शासन का नेतृत्व उन कुशल आचार्यों के हाथ में ही रहा, जिनका वर्णन इन रचनाओं में मिलता है। अतः भगवान महावीर के बाद कौन कौन आचार्य हुए? उनकी गुरु परम्परा क्या रही? वे कब और कहाँ रहे? कहाँ कहाँ विचर कर जैन शासन की क्या सेवा की? किन किन राजाओं पर उनका प्रभाव व सम्बन्ध था? उन्होंने किन किन ग्रन्थों की रचना की? किन किन को जैन धर्म में प्रतिबोधित किया और उनसे क्या क्या धार्मिक कार्य करवाये? कहाँ कहाँ के मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की? तीर्थयात्रा की व संघ निकलवाये, वादियों को शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया? इत्यादि अनेकानेक घटनाएँ इन पट्टावलियों आदि में पायी जाती हैं।

प्राचीन काल के मुनियों का जीवन अध्यात्मपूर्ण था, इसलिए वे अपनी प्रसिद्धि तनिक भी नहीं चाहते थे। उन्होंने लोकोपकार के लिए बड़े बड़े और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया। पर उनमें से बहुत से ग्रन्थों में तो रचयिताओं ने अपना नामोल्लेख तक नहीं किया। परवर्ती कुछ ग्रन्थकारों ने अपने नाम का निर्देश मात्र कर दिया पर अपना परिचय कुछ भी नहीं दिया। कई ग्रन्थकारों ने तो अपनी रचनाओं को पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम पर प्रसिद्ध कर दिया अर्थात वे इतने निस्पृह थे कि उनके उपदेश पूर्वाचार्यों की परम्परा से प्राप्त हुए हैं, इसलिए हमें अपने नाम बतलाने की आवश्यकता नहीं व पूर्व महर्षि जनता के अधिक श्रद्धा भाजन हैं। अतः उनके नाम से रचित ग्रन्थों का लोकमानस पर अधिक अच्छा प्रभाव पड़ेगा, बस इसीमें उन्होंने रचना के उद्देश्य की सफलता समझी। क्योंकि जिस जनता के लिए उसका निर्माण हुआ है, उसपर उसका अधिक से अधिक प्रभाव पड़े, तो रचना का उद्देश्य सफल हो गया।

क्रमशः लोकैषणा—नाम और यश की कामना बढ़ती गयी। इसलिए ग्रन्थकार अपना परिचय विस्तार से देने लगे इतिहास के लिए तो यह प्रयत्न बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ अन्यथा बहुत से प्राचीन ग्रन्थों के रचना काल और रचयिता का निश्चय अन्य उल्लेखों और अनुमान के आधार से किया जाता है, वह संदिग्ध ही रहता है।

प्राचीन राजाओं और आचार्यों की परम्पराओं का कुछ उल्लेख ग्रन्थान्तरों में मिलता है। जैसे पुराणों में अनेक राजवंशों की नामावलियाँ प्राप्त होती हैं। वैसे ही कतिपय जैन ग्रन्थों में

भी राजाओं और आचार्यों की वंशावली उनके शासन काल के समय के साथ दी हुई मिलती हैं। उदाहरणार्थ जैसे षट्खंडागम, तिलोय पण्णत्ति में वीर निर्वाण ६८३ वर्ष तक के आचार्यों का और शक राजाओं के राज्यकाल का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे ही कई श्वेताम्बर ग्रन्थों में उल्लेख हैं जिनके आधार से जैन काल गणना के सुनिश्चित करने का प्रयत्न मुनि कल्याण विजय जी ने अपने 'वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना' नामक बृहत् निबन्ध में किया है।

जैसा कि मैंने अपने अन्य लेखों में लिखा है कि ऐतिहासिक साधन दिगम्बर समाज की अपेक्षा श्वेताम्बर समाज के अधिक प्राप्त होते हैं। कारण भी स्पष्ट है कि दिगम्बर आचार्यों को नग्न आदि रहने से वन एवं गुफाओं में ही अधिक रहना पड़ा। फलतः उनका आध्यात्मिक झुकाव अधिक रहा। जबकि श्वेताम्बर मुनि नगरों और जन साधारण के सम्पर्क में अधिक आये, क्रमशः वे चैत्यों में निवास करने लगे। राजाओं आदि के सम्पर्क में वे अधिक आये अतः उनका आध्यात्मिक झुकाव कम हो जाना स्वाभाविक था।

वीराब्द ९८० में श्वेताम्बर आगम देवर्द्धिगणि ने लिपि बद्ध किये। तब उस समय तक की आचार्य-परम्परा को बताने के लिए स्थविरावलियों का निर्माण हुआ। जिनमें से एक प्राकृत गाथाबद्ध संक्षिप्त स्थविरावली नन्दीसूत्र में पाई जाती है और दूसरी विस्तृत गद्य स्थविरावली कल्पसूत्र के साथ जोड़ी गई है। इनके आधार से हम वीरनिर्वाण तक की १००० वर्षों तक भी अनेक इतिहास की कड़ियों को व्यवस्थित कर सकते हैं। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में तो केवल आचार्य परम्परा के नाम देकर उनका गुणोत्कीर्तन किया है पर कल्पसूत्र की स्थविरावली में उन आचार्यों के अनेक शिष्यों के नाम और उनके द्वारा प्रसिद्धि में आये कुल, गण और शाखाओं आदि की जानकारी मिल जाती है। मथुरा की कई प्राचीन मूर्तियों के शिलालेखों में जो गणों आदि का उल्लेख है उनका कल्पसूत्र की स्थविरावली में विवरण मिलता है। तीसरी स्थविरावली हेमवत स्थविरावली के नाम से प्रसिद्ध है जो मूलरूप में प्रकाशित होने से पूर्व उसका हिन्दी अनुवाद कल्याण विजय जी ने अपने महानिबन्ध के परिशिष्ट में प्रकाशित कर दिया है। इसके बाद कई शताब्दियों तक कोई स्थविरावली या पट्टावली रची हुई नहीं मिलती। इसीलिए छठी शताब्दी से दशवीं शताब्दी के बीच की आचार्य परम्परादि का जैसा वर्णन चाहिए, नहीं मिलता। १२ वीं शताब्दी में फिर कुछ रचनाएँ रची जानी चालू होती हैं जिनमें गणधर सार्द्धशतक, गणपदसत्तरी आदि उल्लेखनीय हैं। १३ वीं शताब्दी से हम ऐतिहासिक साधनों की प्रचुरता पाने लगते हैं। इस समय पूर्व इतिहास का संकलन और नवीन ऐतिहासिक व्यक्ति सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण जारी हुआ। प्रबन्ध संग्रह आदि कई ग्रन्थों की परंपरा यहीं से प्राप्त होने लगती है। हाँ, संवत् १३३४ में रचित प्रभावक चरित्र में जो कई पूर्वाचार्यों के प्रबन्ध

हैं उनका मूल आधार कई प्राचीन प्रबन्ध ग्रन्थ हैं जो अब मूलरूप में प्राप्त नहीं हैं। कुछ आचार्यों के प्रबन्धों की पाटण में ताडपत्रीय प्रतियाँ हैं और अन्य कई प्रबन्धों का संग्रह मुनि जिन विजय जी ने अपने "पुरातन प्रबन्ध संग्रह" में प्रकाशित किया है। इसमें सं० १२६ में जिनभद्र रचित 'नाना कथानक प्रबन्धावली' आदि का उल्लेख है। १४ वीं शताब्दी से तो जहाँ तक पट्टावलियों का सम्बन्ध है, कुछ विशिष्ट पट्टावलियाँ प्राप्त होने लगती हैं। सं० १३०५ में रचित जिनपालोपाध्याय की युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, अद्वितीय ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें अस्सी वर्षों का इतिहास तो संवतानुक्रम से दिया हुआ है। शायद इस पद्धति से लिखा जानेवाला यह सर्व प्रथम ऐतिहासिक ग्रन्थ होगा। इसकी परंपरा पीछे भी चलती रही फलत सं० १३९३ तक का तो संवतानुक्रम से लिखा इतिवृत्त हम इस गुर्वावली में पाते हैं। इसके बाद सं० १३९३ का उपकेश गच्छ प्रबन्ध इस गच्छ की गुरु परंपरा का उत्तम परिचय हमें देता है। इसके बाद १५ वीं शताब्दी में रचित मुनि सुन्दर सूरि की तपागच्छ गुर्वावली और मेरुतुङ्ग सूरि की 'अञ्चलगच्छ पट्टावली' प्राप्त होती है। १६ वीं शताब्दी से तो अनेक गच्छों की पट्टावलियाँ संस्कृत और लोक भाषा में लिखित प्राप्त हैं। जिनमें से कुछ का संग्रह खरतर गच्छ पट्टावली संग्रह, पट्टावली समुच्चय भाग १, २ और विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह (मुनिजिन विजय द्वारा संपादित पर अभी अप्रकाशित) में हुआ है। कई पट्टावलियों का मूल व साररूप में हमने भी प्रकाशित किया है। कई अन्य मुनियों ने भी प्राप्त सामग्री के आधार से नये ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किये हैं। कुछ पट्टावलियों का सार 'जैन गुर्जर कवियों भाग २, ३' के परिशिष्ट में भी प्रकाशित हुआ है।

जहाँ तक दिगम्बर पट्टावलियों का प्रश्न है, प्राचीन विस्तृत पट्टावलियाँ तो जानने में नहीं आईं। जैसा कि पहले लिखा गया है षट्खण्डागम के वेदना खण्ड में और तिलोय पण्णत्ति में वीरात् ६८३ वर्ष तक के पूर्वधर और अंगधर आचार्यों की नामावली मात्र मिलती है। उसके पश्चात् आचार्य जिनसेन के हरिवंश में वि० सं० ८४ तक की अविच्छिन्न गुरु परम्परा प्राप्त होती है। वीरात् ६८३ वर्ष तक के आचार्यों की नामावलि के बाद ६२७ वर्षों में हुए २९ आचार्यों का इसमें वर्णन है। तदनन्तर दर्शनसार में हम कुछ संघ एवं गणों आदि की जानकारी पाते हैं। पर पट्टावलियों के रूप में लिखा कोई प्राचीन ग्रन्थ अभी तक देखने में नहीं आया। कुछ फुटकर संक्षिप्त पट्टावलियाँ जानने में आई हैं वे बहुत परवर्ती रचना प्रतीत होती हैं। इसलिए उनमें दिये हुए प्राचीन आचार्यों के समय आदि संदिग्ध ही लगते हैं। उन सब में प्राचीन कौनसी है? इसे तो शोध प्रेमी कोई दिगम्बर विद्वान् ही बता सकते हैं। इस संबंध में मेरी जानकारी सीमित होना स्वाभाविक ही है। फिर भी अपने विशाल अध्ययन के बल पर जो थोड़ा बहुत लिख जाता हूँ वह दिगम्बर विद्वानों के लिए प्रेरणा दायक होना चाहिये। एक श्वेताम्बर व्यक्ति बार बार उन्हें अपने ऐतिहासिक साधनों और ग्रन्थ सूची प्रकाशित करने के लिए

प्रेरणा करता है, फिर भी कोई उल्लेखनीय कदम नहीं उठाया जाता यह अवश्य ही विचारणीय है, दिगम्बर समाज में पैसों की कमी नहीं। शान्ति प्रसाद जी जैसे उदार व मुक्त हस्त व्यक्ति से अच्छे कार्यों के लिए जब जितना चाहें पैसा मिल सकता है और विद्वानों की भी दिगम्बर समाज में कमी नहीं। आप उनकी सूची बनाने लगेंगे तो सैकड़ों की संख्या पहुंच जायगी। फिर भी अभी तक दिगम्बर जैन इतिहास के मूल भूत साधनों के संग्रह ग्रन्थ तेजी से प्रकाशित नहीं हो रहे हैं, यह बहुत ही लज्जा जनक स्थिति है। प्रतिमा लेखों के संग्रह को ही देखिये, श्वेताम्बर समाज के पन्द्रह-बीस ग्रन्थ बहुत बड़े २ और महत्वपूर्ण प्रकाशित हो चुके हैं। तब दिगम्बर समाज में प्रेमी जी की प्रेरणा से प्रकाशित "जैन शिलालेख संग्रह" के दो भाग ही उल्लेखनीय है बाकी की छोटी २ पुस्तकें तो नाम मात्र की हैं। इसी तरह ऐतिहासिक काव्य, रास गीत, पट्टावलियाँ, आदि का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। केवल दो "प्रशस्ति संग्रह" अवश्य उल्लेखनीय हैं।

जैन तीर्थों की इतिहास सम्बन्धी सामग्री भी दिगम्बर विद्वानों की रचित बहुत कम मिलती है। कुछ संक्षिप्त 'निर्वाण भक्तियाँ' प्राप्त होती हैं, उनका भी संग्रह होना चाहिये माना कि बड़े-बड़े ऐतिहासिक काव्य, बड़ी २ पट्टावलियाँ और दिगम्बर जैन जातियों की उत्पत्ति के प्राचीन साधन, विशिष्टाचार्यों और श्रावकों के किये हुए धर्मकृत्यों आदि का प्राचीन वर्णन श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा कम मिलता है, पर जो कुछ भी सामग्री है, उसको संग्रहित कर शीघ्र ही प्रकाश में लाना चाहिये। अन्यथा सामग्री के अभाव में जैन इतिहास का लेखन ठीक से हो नहीं सकता। अधिकांश सामग्री बिखरी हुई है और वह बहुत छोटे २ रूप में है। इसलिए जहां तक उनका संग्रह प्रकाशित न हो वहां तक उसका उपयोग किया जाना संभव नहीं। कुछ वर्षों पूर्व तो मेरी यह धारणा थी कि दिगम्बर भण्डारों में ऐतिहासिक सामग्री का ही अभाव है पर अब नागौर आदि के भण्डारों के अवलोकन से वह धारणा बदल चुकी है। वास्तव में जो थोड़ी बहुत सामग्री है, वह भट्टारकों के भण्डारों में सुरक्षित है और उनके भण्डारों का सूक्ष्मता से अवलोकन बहुत ही कम किया गया है क्योंकि जब दिगम्बर समाज में कविवर बनारसी दास जी के पश्चात् तेरह पंथ नामक सुधारक पार्टी ने जोर पकड़ा तो भट्टारकीय परम्परा से उसका संघर्ष हुआ। भट्टारकीय परम्परा में श्रावकों में विद्वान् कम हुए, क्योंकि वैसी आवश्यकता नहीं थी। उनको धर्म-साधना कराने वाले भट्टारक और उनके शिष्य थे ही। इसी पराश्रित अवस्था के कारण श्वेताम्बर समाज में भी श्रावक-विद्वान् कम हुए। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। इधर दिगम्बर तेरह-पंथ में शास्त्रों का पठन पाठन और समस्त क्रियाकाण्ड श्रावकों को खुद ही करना पड़ा क्योंकि शुद्ध व ऊँचे आचार वाले भट्टारकों की कमी रही और भट्टारकों के क्रियाकाण्ड के वे विरुद्ध थे। अत उनसे मेल खा नहीं सकता था। धर्म-संरक्षण और साधना का भार स्वयं पर आ पड़ने से श्रावकों को तैयार होना पड़ा। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन कर जन साधारण के लिए गद्य और पद्य में

उनका लोक भाषा में अनुवाद किया और प्राचीन ग्रंथों के आधार से बहुत से मौलिक ग्रंथ भी बनाये। शास्त्रीय ज्ञान में भट्टारकों से टक्कर लेने के लिए उन्हें बहुत कुछ श्रम करके आगे बढ़ना पड़ा।

भट्टारकों ने अपनी सामग्री को दूसरों को दिखाने व देने में अनुदारता ही रक्खी। इधर सुधारक पार्टी में पंडित अधिक थे पर विरोधी होने के कारण उनके लिए उस सामग्री का दर्शन दुर्लभ-सा था। बीस पंथी भट्टारक परंपरा वालों ने भी अपने गुरुओं के भंडारों से विशेष लाभ नहीं उठाया। इस तरह वह सामग्री अज्ञात अवस्था में ही पड़ी रही।

इधर जब बीकानेर के भट्टारकीय भण्डार की सूची प्रकाश में आई और जयपुर जाने पर उस संग्रह के कुछ ग्रंथ स्वयं भी देखे तो ऐसा लगा कि जहाँ तक इन भट्टारकों के भण्डारों का अवलोकन पूर्ण रूप से नहीं किया जायगा, जैन साहित्य का इतिहास अधूरा ही रहेगा उसके बाद मुनि पुण्य विजय जी आदि के नागौर पधारने के प्रसंग से वहां गया और भट्टारक जी से मिलकर उनके भण्डार के अवलोकन की व्यवस्था की तो मेरी वह पूर्व धारणा और भी दृढ़ हो गई। दो दिनों में हमने उस भण्डार को छान डाला। तो उस भंडार में सैकड़ों अन्य अप्राप्य ग्रंथ हमारे जानने में आये और कई ग्रंथों की बहुत लम्बी २ लेखन प्रशस्तियाँ देखने को मिलीं। साथ ही गुटकों आदि में कई भट्टारकों आदि के सम्बन्धित ऐतिहासिक गीत भी मिले जिनके विषय में इससे पूर्व मुझे कोई भी जानकारी न थी। गुटकाकार संग्रह प्रतियों का इसमें बहुत बड़ा संग्रह है और कई गुटकों में मुझे मूल संघ के नंदी शाखा के बलात्कार गण की गुरुनामावलि देखने को मिली। समयाभाव से इच्छा होने पर भी उसकी उस समय नकल न कर सका। बीकानेर आकर सूची बनाने के लिए नियुक्त पण्डित जी से उस नामावलि की नकल भेजने के लिए लिखा गया। और उनसे जो ९५ श्लोकों वाली पट्टावली उपलब्ध हुई वह यहाँ प्रकाशित की जा रही है।

भट्टारक जी से वार्तालाप होने पर विदित हुआ कि उनके पास कई राजाओं और बादशाहों से प्राप्त पट्टे परवाने भी हैं। उनके शासन के अन्य कई स्थानों में भी अच्छे ज्ञान भण्डार हैं। इनके पास अन्य विस्तृत पट्टावलियाँ भी होनी चाहिये। पर मैं इस सामग्री को देख नहीं पाया। मेरी यह धारणा जरूर बन गई है कि जिस प्रकार श्वेताम्बर समाज में यति की पूज्यों के पास ऐतिहासिक सामग्री अधिक मिलती है। उसी प्रकार दिगम्बर भट्टारकों के पास भी चाहे थोड़ी ही हो पर कुछ काम की सामग्री है जरूर, जिसका हमारे विद्वान् अलगाव वृत्ति के कारण कुछ भी लाभ नहीं उठा सके हैं, भट्टारकों से काम लेने के लिए विनय-व्यवहार में कुशल होना चाहिये।

'जैन सिद्धान्त भास्कर' के प्रथम वर्ष में सेन गण की ऐसी ही एक संस्कृत पद्य बद्ध लघु पट्टावली भावानुवाद के साथ प्रकाशित हुई थी। अन्य गणों की भी पट्टावलियाँ मिलती होंगी। ग्रंथ प्रशस्तियों और शिलालेखों के द्वारा उनको संशोधित व प्रामाणिक बनाकर प्रकाशित कराना चाहिये।

एक दो पट्टावलियाँ मैंने ऐसी देखी जो विशेष प्राचीन नहीं पर उनमें पूर्वाचार्यों के वंश, समय आदि का निर्देश किया हुआ था। उसमें से कुछ प्राचीन लेख तो कल्पित से लगे, उनकी जाँच अन्य साधनों से की जानी चाहिए।

यथा जयपुर या उदयपुर के म्यूजिम में मैंने एक दिगम्बर शिला-पाषाण खण्ड देखा था। जिसमें बहुत सी छोटी २ मूर्त्तियाँ उत्कीर्णित थीं और उनके नीचे दि०-आचार्य परम्परा की विस्तृत नामावली खुदी हुई थी। इसी तरह कई दिगम्बर भट्टारकों की पादुकाएं, मूर्तियाँ आदि भी लेख सहित प्राप्त होती हैं। हमारे संग्रह में भी एक ऐसी पीतल की पादुका है, जिसमें सोलहवीं शताब्दी के किसी भट्टारक की पादुका होने का लेख खुदा हुआ है। भट्टारकों के निवास सत्कारादि के स्थानों की पादुकाओं के लेख भी संग्रहीत करने चाहिए। इससे भी पट्टावलियों को शुद्ध करने में मदद मिलेगी।

पट्टावली:—

श्रीमानशेषनरनायकवंदितांघ्रिः,
श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुत नामधेयः।
यो भद्रबाहू मुनिपुङ्गवपट्टपद्मः,
सूर्यः स वो दिशतु निर्म्मल सघवृद्धिम्॥ १॥
श्रीमूलसंघे जनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोतिरम्यः।
तत्राभवत् पूर्वपदांश वेदी श्रीमाघनन्दीनरदेववंद्यः॥ २॥
पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचन्द्रः समभूदतंद्रः।
ततो भवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्त्ती॥ ३॥
आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिछः पद्मनन्दीति तन्यते॥ ४॥
तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तृत्वप्रकटीकृत सन्मतः।
उमास्वामि पदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान्॥ ५॥
लोहाचार्यस्ततो जातोजातरूपधरो मरैः।
सेवनायः समस्तार्थ विबोधनविशारदः॥ ६॥
ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्य वाच्युपलक्षणात्।
तेषां यतीश्वराणांस्युर्नामिनीमानित कृत्तः॥ ७॥
यशः कीर्त्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
पूज्यपादापराख्ये यो गुणनन्दी गुणाकरः॥ ८॥

विशालकीर्त्तिर्वरवृत्तमूर्त्तिन्ततो महात्माश्रुतकीर्त्तिदेवः ।
एकान्तराद्युग्रतपो विधाता धाता त्रसन्मार्गविधे विधाने ॥ २३ ॥
श्रीधर्म्मचन्द्रो जनि तस्य पट्टे हम्मीरभूपालसमर्च्चनीयः ।
सैद्धान्तिकः संयमसिन्धुचन्द्रः प्रख्यात माहात्म्य कृतावतारः ॥ २४ ॥
तत्पट्टे जनि रत्नकीर्त्तिरनघः स्याद्वादविद्यांबुधि-
र्नाना देश विवृत्त शिष्यनिवहः प्रान्याध्रि युग्मोगुरुः ।
धर्म्माधर्म्म कथास्वसक्तधिषण पापप्रभावाधको,
बालब्रह्मतपः प्रभावरहितः कारुण्य पूर्णाशयः ॥ २५ ॥
पट्टे श्रीरत्नकीर्त्तिरनुपमतपसः पूज्यपादीय शास्त्र,
व्याख्या विख्यातकीर्त्तिगुणगणनिलयः सक्रियसार चंचुः ।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमामानसहापिवादो,
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदित श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ २६ ॥
हसो ज्ञानभरालिकासमसमाश्लेषप्रभूताद्भुता,
नन्दः क्रीडतिमानसेति विशदे यस्यानिशसर्द्धन ।
स्याद्वादामृतसिंधुवर्द्धनविधो श्रीमत्प्रभेन्दु प्रभो,
पट्टे सूरिमतल्लिका स जायतात् श्रीपद्मनन्दीमुनि. ॥ २७ ॥
महाकृति पुरंदर. प्रशमदग्धरागाकुर,
स्फुरत्परमपौरुपः चितिरशेषशास्त्रार्थवित् ।
यशोभर मनोहरी कृत समस्त विश्वम्भर,
परोपकृतितत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः ॥ २८ ॥
स्याद्वादामृतसिंधुवर्द्धनकरः सौम्यैर्गुणैवल्लभः,
षट् तर्कागम जैनशासन महाजन्वप्रतिष्ठोत्सवः ।
पट्टे श्रीमुनि पद्मनन्दि विदुषः कल्याणलक्ष्मीकरः,
सोयं श्री शुभचन्द्रदेव मुनियो भव्यैर्जनैर्वंदित ॥ २९ ॥
पट्टे श्री शुभचन्द्रदेवगणिनः श्रीपद्मनन्दीश्वरः,
स्तर्क्कव्याकरणादिग्रन्थकुशले विख्यात कीर्त्तिर्गणी ।
श्रीमाश्रीजिनचन्द्रसूरिरभवद्रत्नत्रयालकृतो,
हेयादेयविचारमार्गचतुरश्चारित्रचूडामणिः ॥ ३० ॥
प्रकटित जिनमार्गोध्वस्त मोहान्धकारो,
जितनयपरवादि सप्तभङ्गिद्धबोधः ।

कल्पित कथा समीक्षा

भगवान महावीर स्वामी के अवतार के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बरों में बड़ा ही मत भेद है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि भगवान महावीर स्वामी का गर्भ परिवर्त्तन हुआ। श्वेताम्बर कल्प सूत्र पृ० १० वें पर बतलाया गया है कि महावीर स्वामी पहले नीच गोत्र के उदय से ऋषभदत्त ब्राह्मण की देवनदा ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे। फिर इन्द्र ने हरिणगवेषी देव को भेजकर भगवान महावीर स्वामी को ८२ दिन के पीछे देवनन्दा के पेट में से निकलवाकर त्रिशला रानी के पेट में रखवा दिया और उसकी गर्भस्था पुत्री को देवनदा के पेट में रखवा दिया।

श्री महावीर स्वामी के गर्भ में आने के पहले देवनदा को १४ शुभ स्वप्न दीखे थे और ८२ दिन के पीछे त्रिशला रानी के पेट में पहुचने के पहिले वैसे ही १४ शुभ स्वप्न त्रिशला रानी को भी दिखलाई दिये। इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी का गर्भ परिवर्त्तन होना श्वेताम्बर ग्रन्थों में माना गया है जिसमे से कुछ छोड़कर श्री अगरचंदजी नाहटा ने कल्पसूत्र के आधार पर "जैनसिद्धान्त भास्कर" भाग २० किरण १ जून सन् १९५३ पृष्ट ३९ वें पर लेख प्रकट किया है परन्तु ऐसी असम्भव बात को एक दम से मान लेना विद्वानों का काम नहीं है। इसलिये इसे युक्ति की कसौटी पर कसकर पाठकों के सम्मुख रखते हैं। ऐसा असम्भव लेख बिना टीका—टिप्पणी के प्रकट कर देना खटकता है। इसलिये खुलासावार यह लेख भेजा जा रहा है।

१ क्या इन्द्र में गर्भ बदलने की शक्ति है? यदि है तो जिस प्रकार त्रिशलारानी की गर्भस्थ पुत्री को देवनंदा के गर्भ में और देवनंदा के गर्भस्थ पुत्र को (महावीर स्वामी को) त्रिशला रानी के पेट में पहुँचाया, उसी प्रकार १९ वें तीर्थंकर जिसको श्वेताम्बर मत में स्त्री के रूप में माना गया है उस मल्लिनाथ तीर्थंकर को किसी लड़केवाली स्त्री के पेट से निकाल कर मल्लिनाथ को माता के पेट में पहुँचाता और मल्लिनाथ की माता के पेटवाली लड़की को उस स्त्री के गर्भ में पहुचाता जिससे १९ वें तीर्थंकर को किसी प्रकार का दोष न लगता, परन्तु इन्द्र ऐसा न कर सका क्योंकि बात असम्भव थी। अतः महावीर स्वामी के गर्भ हरणवाली बात मिथ्या है।

२ इन्द्र ने भी परिश्रम उठाकर क्या किया श्वेताम्बर ग्रन्थों के कथनानुसार महावीर स्वामी की आत्मा का शरीर ब्राह्मण के वीर्य तथा ब्राह्मणी के रज से बन गया। अब उस बने हुए तथा ८२ दिन बाद ब्राह्मणी के रस रक्त से वृद्धि पाये हुए पिंड को इन्द्र चाहे जहाँ उठाकर रख देवे पिंड बदल नहीं सकता। इस कारण इन्द्र का परिश्रम व्यर्थ समझना चाहिये।

३ हरिणगवेषी देव ने महावीर स्वामी का गर्भ देवनंदा ब्राह्मणी के मुख से निकाला? या उदर से निकाला? अथवा योनि मार्ग से निकाला? मुख से तो इस कारण नहीं निकल

सकता कि गर्भ औदारिक शरीर के रूप में था उस स्थूल औदारिक शरीर का बिना उदर आदि फाड़े उदर तथा मुख मार्ग से निकलना असम्भव है। यदि उस देवने गर्भ को योनि मार्ग से निकाला तो कहना चाहिये कि ब्राह्मणी के यहाँ ही महावीर स्वामी ने जन्म ग्रहण किया क्योंकि समस्त बालक का अपनी माता की योनि से बाहिर निकलना ही जन्म लेना कहलाता है।

४ लोक में किसी साधारण पुरुष को भी दो पिताओं का पुत्र कहना अपमान जनक माना जाता है फिर भी महावीर स्वामी तीर्थंकर सरीखे लोक वन्दनीय महापुरुष को ऋषभदत्त ब्राह्मण और सिद्धार्थ राजा का पुत्र कहना कितना पाप पापजनक वचन है।

५ देवानन्दा ब्राह्मणी के पेट में श्री महावीर स्वामी के आते समय देवानन्दा को १४ स्वप्न दिखलाई दिये व तदनुसार उसके गर्भ कल्याणक हुआ होगा। और त्रिशला रानी के पेट में पहुँचने पर उसको भी १४ स्वप्न दिखलाई दिये तब उसके यहां भी गर्भ कल्याणक हुआ होगा। इसलिये श्री महावीर स्वामी के दो कल्याणक हुए। यदि किसी एक ही स्थानपर गर्भ कल्याणक हुआ तो प्रश्न यह है कि दूसरे स्थानपर क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि नियम है कि तीर्थंकर की माता के पेट में आने पर ही गर्भ कल्याणक होता है।

६ श्री महावीर स्वामी के माता पिता क्षत्रिय राजा रानी थे ? या ब्राह्मण ब्राह्मणी थे ? यदि यह कहा जाय कि राजा रानी थे तो ब्राह्मण ब्राह्मणी क्यों नहीं, जिनके रज वीर्य से महावीर स्वामी के शरीर का पिंड बना और ८२ दिन तक ब्राह्मणी के पेट में उदर रस रक्त से पालन हुआ ? यदि यह कहो कि ब्राह्मण ब्राह्मणी थे तो राजा रानी क्यों नहीं जिनके यहां गर्भ में ६ मास रहकर निर्वाह हुआ।

इत्यादिक अनेक प्रबल अनिवार्य दोष उपस्थित होने से निष्कर्ष निकलता है कि महावीर स्वामी का गर्भ हरण नहीं हुआ गर्भ हरणवाली बात सर्वथा असत्य एवं कल्पित है।

कर्म सिद्धान्त भी इस कल्पित बात को बहुत बलपूर्वक सर्वथा असत्य सिद्ध करता है क्योंकि देखिये नीच गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा कोड़ी सागर है। यदि मारीच ने अधिक से अधिक कषायरूप परिणाम रक्खे थे तो उसको २० कोड़ा कोड़ी सागर की स्थिति वाला कर्मबन्ध हुआ। यह २० कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति वाला कर्म सिद्धान्त के नियमानुसार दो हजार वर्ष पीछे ही अपना आबाधा काल टालकर उदय में अवश्य आना चाहिये और तदनुसार दो हजार वर्ष पीछे से मारीच का जन्म नीच कुल में नीच गोत्र के उदय से बराबर २० कोड़ा कोड़ी सागर तक नीच कुल में ही होना चाहिये था। किन्तु ऐसा हुआ नहीं क्योंकि जिस समय उसके नीच गोत्रकर्म का बन्ध हुआ बतलाया जाता है उस समय से लेकर करोड़ों वर्ष तो केवल उसी उच्च कुलीन मनुष्य शरीर में रहा। दो हजार वर्ष के स्थान पर जो वर्ष सम्मत बाकि थे उच्च गोत्र ही रहता रहा। कभी किसी स्वर्ग का देव, कभी कहीं का राजा कभी कहीं

ब्राह्मण हुआ। इस प्रकार उच्च कुल में ही उत्पन्न होता रहा। यदि मारीच के भव में उसने महावीर स्वामी के भव में रह सकने योग्य बड़ी स्थिति वाले नीच गोत्र कर्म का बन्ध किया था तो बीच बीच में ऐसे उच्च गोत्रीय भाव कदापि नहीं मिलते थे। बीच-बीच के जन्म में तो नीच गोत्र कर्म का उदय आया नहीं किन्तु महावीर स्वामी के भव में उस नीच गोत्र कर्म का उदय आ गया। यह बात स्वयं श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थ रचयिता विद्वानों के लेख से बिलकुल असत्य साबित होती है।

श्वेताम्बर ग्रन्थकारों को इतने पर ही संतोष नहीं आया और भी कई प्रकार के दोष लगाये गये हैं। आजन्म ब्रह्मचारी महावीर स्वामी का विवाह होना और सन्तान होना। गला सड़ा फेंकने लायक भोजन मुनि अवस्था में खाना और केवलज्ञान होने के बाद उनके शरीर में पेचिश का रोग होना और उसके दूर करने को औषध का सेवन करना। इत्यादि—

श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भगवान् महावीर स्वामी का विवाह होना और उनके सन्तान होना भी माना गया है।

परन्तु "आवश्यक निर्युक्ति" ग्रन्थ का कर्त्ता यह भी बतलाता है—

"वीरं अरिट्ठनेमि पासं मल्लिं च वासपुज्जं च।
ए ए मुत्तणजिणे अवसेसा आसि रायणो ॥ २२१ ॥
राय कुलेसु विजाया विशुद्ध वंसेसु खत्तिय कुलेसु।

'णय इत्थि अभिसेआ' इस पदकी टिप्पणी में लिखा है कि—

"स्त्रीपाणिग्रहण राज्याभिषेकोभय रहित्ता इत्यथ।

अर्थात्—महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थङ्कर ऐसे हुए कि न तो इनका पाणिग्रहण हुआ और न राज्याभिषेक। ये क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न थे, कुमारावास से ही प्रव्रजित हो गये थे।

उक्त ये दोनों ही ग्रन्थ श्वेताम्बरीय हैं एक भगवान् महावीर स्वामी का विवाह होना बतलाता है तो दूसरा विवाह का निषेध करता है। इसलिये दोनों ग्रन्थ अमान्य हैं? क्योंकि "कल्पसूत्र" बतलाता है कि ऋषभदत्त ब्राह्मण की ब्राह्मणी के गर्भ में आये "आवश्यक निर्युक्ति" ग्रन्थ क्षत्रिय कुल में उत्पन्न बतलाता है—१६ वें तीर्थङ्करी मल्लिकुमारी को भी 'मल्लिनाथ' लिखा है। अत नाथ शब्द पुरुष वाचक है।

"भगवान् महावीर स्वामी का जीवन आदर्श" यह एक बड़ा लम्बा चौड़ा पोथा है और इसके लेखक स्थानकवासी साधु चौथमलजी हैं। पृष्ठ २८५-२८६ वें पर बतलाते हैं कि—

"फिरते फिरते भगवान् एक गृहस्थ के घर पहुँचे उसका नाम 'आनन्द' था, उस समय उस गृहस्थ की एक दासी जिसका नाम बहुला था भोजन के पात्रों को साफ करके उन्हें मलना

(भोजना) चाहती थी, और उसके जरा पहले उ नी बतनों को धांद्र शर्ध्र करके उनमें लगे हुए ट' और बुसे हुए चावलों को निकाल कर वह फैंकने में हा थी कि इतन में एक भिनुक रू में अपने द्वार पर खड़ हुए भगवान् को उसने देखा वह उसी समय उनसे बोली इन ट' बुसे चावलों को मैं फैंकना चाहती हूँ अगर आप चाहें तो इ' ले लें। प्रभु ने बिना किसी प्रकार की जरा भी किसी प्रकार की अरुचि या उदासी के भाव दिखलाये, प्रसन्न चित्त से उन्हें लेने के लिये भाई के सामने हाथ पसार दिये और उसने प्र.ण कर वहीं खड़े-खड़ आहार किया। फिर प्रभुने यष्टिक ग्राम से विहार कर दिया"।

बात समझ में नहीं आती—क्योंकि जानवर मनुष्य ने मल मूत्र का भी भक्षण करते हैं, गन्दी से गन्दी अपवित्र से अपवित्र वस्तु खा जाते हैं फिर ऐसा सबसे खराब पदार्थ कौनसा शेष रहा जो फैंकने योग्य हो जिसे जानवर भी न खा सके। और फिर ऐसी कौनसी लाचारी आगई कि पशुओं के भी न खाने योग्य वे चावल भगवान ने खाये।

देखिये—और एक गजब की बात। जबकि भगवान महावीर स्वामी को केवलज्ञान हो गया उस केवलज्ञान होने के बाद बतलाया जाता है कि किसी गोशाल नाम के व्यक्ति ने उन पर तेजो लेश्या छोड़ी जिसके दा. से भगवान महावीर स्वामी को पेचश के दस्त हो गये, उन दस्तों को बन्द करने के लिये भगवान ने सीहा नाम के मुनि द्वारा गृहस्थ के घर से लेकर औषध का सेवन किया।

श्वेताम्बरीय 'भगवती सूत्र" पृष्ठ १२६६ से १२७२ तक जो लिखा है उसके पहले सूत्र में यों बतलाया है—

> "त गच्छहणा तुम सीहा मढियगाम णयरे रेवती ए गाहाव—
> यणीये गिहे तथणं रेवतीए गाहावयणीये मम अट्ठाए दुवे
> कवोय शरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठा अत्थि। से अण्णो प—
> रियासि मज्जार कड्ए कुक्कुड मंसए तमाहाराहि तेण अट्ठो।"

इसकी संस्कृत छाया भी इसके नीचे लिखी है—

> "तद्गच्छ त्वंसिंह ? मढिकग्रामे नगरे रेवत्या गृहपतिप—
> त्न्या गिहे, तत्र रेवत्या गृहपतिपत्न्या ममार्थं द्वे कपोत शरीरे
> उपस्कृते ताभ्यां नैवार्थोऽस्ति अथार्यं परिवासिन मार्जार कृतं
> कुक्कुर मसक तमाहार (आनय) तेनार्थो स्वि।

यह कथन बीच वाली गाथाओं में दिया है जो विस्तार के भय से यहां नहीं लिखा है। आगे पृष्ठ १२७२ पर जो गाथा है उसमें यह बतलाया गया है कि—

"त एण समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं अहारियस्स समणस्स विपुल रोगाय के खिप्पामेव उवसने, हट्ठे जाए आरोगो बलियशरीरे तुट्ठा, श्रमणा." ॥ इत्यादि

संस्कृत—तहा समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारमाहार्थं माणस्य विपुल रोगातङ्क क्षिप्रमेवोपशान्तः हृष्टो जात आरोग्यो बलवच्छीशरीरः तुष्टा श्रमणाः। इत्यादि

अर्थात्—तब उस आहार को करने वाले श्रमण भगवान महावीर स्वामी का प्रबल रोग व्याधि तुरन्त शान्त हो गई। भगवान महावीर प्रसन्न हुए, उनका शरीर नीरोग हुआ। सब साधु सन्तुष्ट हुए।

उपसंहार

१—जैन साधु सघ की अतीत कालमें—अंतिम श्रुतकेवली श्री आचार्य भद्रबाहु से पहले भगवान महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, आदिनाथ तीर्थंकर के शासन में भी पूर्ण अचेलक-नग्न परंपरा रही है, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन काल में बारह वर्षीय अकाल पड़ा था, तब नग्न परीषह को कुछ साधुओं ने छोड़ करके कुछ वस्त्र लेने प्रारम्भ किये। इससे पहले एक भी जैन साधु रचमात्र भी सचेल नहीं रहा।

२—भगवान महावीर माता त्रिशला के ही गर्भ में आये—किसी ब्राह्मणी के गर्भ में नहीं आये, वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे, तपः काल में कान में कीले ठोकने आदि का उपसर्ग नहीं हुआ, न केवली अवस्था में पेचिस का रोग हुआ, न उसके उपशम के लिये उनको औषधि सेवन करना पड़ा।

३—सबसे प्रथम षट्खण्डागम, कषायपाहुड, समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि दिगम्बरी ग्रन्थों की पुस्तक रूप में रचना हुई है। फिर इन ग्रन्थों का आधार लेकर श्री उमास्वामीने तत्त्वार्थ सूत्र बनाया और लगभग ५०० वर्ष पीछे वीर स० ६८० में वल्लभीपुर में देवर्द्धिगणीजी ने आचाराग आदि नाम रखकर श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों की रचना की। जिनमें कि अनेक प्रकार की शिथिलाचारी बातें वर्त्तमान हैं।

४—भद्रबाहु आचार्य (अन्तिम श्रुतकेवली) ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा और उनका समाधिमरण श्रवणबेलगोला में चन्द्रगिर पहाड़ी पर हुआ।

नोट—भगवान् महावीर की जीवनी के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर आगम में पर्याप्त अन्तर है। किसी अज्ञात नामक कृपालु लेखक ने यह निबन्ध भास्कर मे प्रकाशित करने के लिए भेजा था यह लेखक भास्कर के नियमित पाठक हैं, यह इनके लेखन से स्पष्ट है। इसके लिखे जाने का कारण यह है कि आजकल स्कूल और कॉलेज की इतिहास विषयक पुस्तकों मे भगवान् की जीवनी पायी जाती है। यह जीवनी प्रायः श्वेताम्बर आगमों के आधार पर रहती

है, जिसमें बहुत सी असम्भव और कल्पित बातें जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं। विचारक व्यक्ति उन बातों को स्वीकार नहीं करेगा। कुछ दिन पहले की बात है कि हमारे एक मित्र भगवान् महावीर स्वामी की जयन्ती के अवसर पर आयोजित सभा में भाषण करनेवाले थे। उन्होंने भाषण करने के पूर्व कहा कि 'भाई साहब आपके यहाँ भगवान् के गर्भापहरण की अनर्गल घटना कैसे जोड़ दी गयी है ? मैंने उन्हें उत्तर दिया कि यह केवल एक सम्प्रदाय की मान्यता है। वास्तव में भगवान् का गर्भापहरण नहीं हुआ। इसे कोई भी समझदार स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार विवाह और सन्तान का होना, केवली अवस्था में रोगी होना तथा औषधि का सेवन करना, अभक्ष्य भक्षण करना आदि ऐसी बातें हैं, जो बुद्धिसंगत नहीं हैं। इन बातों को यदि प्रक्षिप्त मान लिया जाय तो आगम क्षति नामक दोष नहीं आवेगा। बौद्ध साहित्य की देखादेखी ही ये ऊटपटाग बातें श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चली आई हैं। इन्हीं पुरानी कुछ मान्यताओं के आधार पर आज अनेक अजैन विद्वान् परम अहिंसक जैनधर्म में भी माँसाहार और मदिरापान की बातें पाते हैं। अतएव अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के जीवनवृत्त में से असम्भव और आगम विरोधी बातों को निकाल उभय सम्प्रदाय की ओर से एक ऐसा प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रकाशित हो, जो सबके लिए मान्य हो। श्वेताम्बर आगम में बहुत सी बातें अच्छी हैं तथा दिगम्बर आगम में भी भट्टारकीय ग्रन्थों में बहुत सी बातें असंगत हैं; अतः दोनों सम्प्रदायों के आगम ग्रन्थों की चर्चा उठाना तो हृदय पर चोट करना हो जायगा। पर इस तथ्य से कोई भी विचारक व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीर के जीवनवृत्त में असम्बद्ध बातों को स्थान नहीं देना चाहिए।

भगवान् महावीर वैशाली के क्षत्रियकुण्ड ग्राम के गणतन्त्राधिपति महाराज सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होने के कारण इन्द्र ने इनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पाँचों कल्याणक सम्पन्न किये थे। भगवान् आजन्म बाल ब्रह्मचारी रहे। यह इकलौते पुत्र थे। ३० वर्ष की अवस्था तक घर में रहे। पश्चात् दिगम्बर दीक्षा लेकर बारह वर्ष तक मौन धारण कर घोर तपश्चरण किया। अनन्तर केवलज्ञान प्राप्त कर ३० वर्षों तक जनता को धर्मोपदेश देते रहे। केवलज्ञान के पश्चात् शरीर के परम औदारिक हो जाने से आहार और निहार का निरोध हो जाता है। ७२ वर्ष की आयु में पावापुरी में कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अवसान और अमावास्या को प्रातः बेला में भगवान् का निर्वाण हुआ। तीर्थंकर जरा, जन्म, मरण, रोग, शोक, क्षुधा, तृषा, भय, आश्चर्य, आतंक, राग, द्वेष और मोह आदि अठारह दोषों से रहित होते हैं। अतः भगवान् महावीर में भी उपर्युक्त दोषों में से कोई भी दोष नहीं था। ये ३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य और ४ अनन्तचतुष्टय से युक्त थे। अतः भगवान् की जीवनी एक सर्व सम्मत और प्रामाणिक निकलनी चाहिए।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

[illegible] नहीं [illegible] वह तो उनमें [illegible] का वर्णन करता है। इन वनस्पतियों का [illegible], [illegible] में चलते हुए आता है। आयुर्वेद के शोधक विद्वान् [illegible] ने [illegible] से उक्त वनस्पतियों की उपयोगिता का [illegible] किया है। इस सम्बन्ध में एक बात यह कहनी है कि यदि [illegible] और [illegible] का [illegible] के लिए करता है तो उपयोगिता गुण उसकी दृष्टि में नहीं रहता। [illegible] ने इस छिपे हुए उपयोगिता गुण का आयुर्वेद की [illegible] से निरूपण नहीं किया। [illegible] पर तो ऐसा [illegible] कि [illegible] एकत्र कर दिये गये हैं।

इस सम्बन्ध में एक कमी यह भी है कि जैन कवि और [illegible] का [illegible] उपेक्षा की गई है। [illegible], धर्मशर्माभ्युदय, पुरुदेव[illegible], [illegible], [illegible]चिन्तामणि आदि श्रेष्ठतम काव्य ग्रन्थों में उक्त आयुर्वेद के विषयों की भी कमी नहीं है। हमारा कहना इन ग्रन्थों के [illegible] नहीं है कि ये [illegible] हैं, अतः इनका समावेश होना ही चाहिए था। [illegible] है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशी की [illegible] यह है कि उनके यहाँ कोई भी ग्रन्थ उसकी ग्रन्थमाला के सम्पादक की स्वीकृति के बिना मुद्रित नहीं होता। सम्पादक भी प्रत्येक [illegible] का अवलोकन कर ही स्वीकृति देते हैं, फिर क्यों उन्होंने लेखक का ध्यान इन उपेक्षित [illegible] की ओर आकृष्ट नहीं किया। अस्तु,

[illegible] लेखक ने एक नयी दिशा खोज करनेवालों के लिए प्रशस्त की है, अतः वह धन्यवाद के पात्र हैं। छपाई-सफाई, गेट अप आदि आकर्षक है।

और खाई पटती गई—लेखक : भारतभूषण अग्रवाल, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। मूल्य ढाई रुपया, पृष्ठ संख्या १५०।

प्रस्तुत रचना में लेखक के आठ [illegible] नाटक संग्रहीत हैं। इस संग्रह में 'और खाई बढ़ती गई' यह प्रथम नाटक है। इसी के नाम पर पुस्तक का नाम रखा गया है। यह [illegible] की दृष्टि से [illegible] है तथा लेखक ने विचार और उसके [illegible] के विषय [illegible] के दोनों [illegible]—उदार और अनुदार का [illegible] चित्र प्रस्तुत किया है। विचार और [illegible] की [illegible] ही [illegible] है। [illegible] में [illegible] के बिना जैसे [illegible] की [illegible] नहीं। [illegible] करने [illegible] अब [illegible] नहीं [illegible] हैं जो [illegible] को [illegible] है। [illegible] विचार का यह [illegible] कथन कितना मार्मिक है—'कुछ यह [illegible] दिखाई देते [illegible] कि [illegible] के लिए [illegible] का [illegible] है, वह [illegible] ठीक उसी तरह [illegible] है, जिस [illegible] प्रकाश के [illegible]।" इससे स्पष्ट है कि [illegible] में [illegible], [illegible]

क्या मैं अन्दर आ सकता हूं [वैयक्तिक शैली के शृङ्खलाबद्ध लेखों की एक माला]—लेखक श्री रावी, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य ढाई रुपया, पृष्ठ संख्या १६८।

हिन्दी में वैयक्तिक शैली के निबन्धों का प्राय अभाव है श्री रावी ने इस शैली के निबन्ध लिखकर माँ भारती के भाण्डार को समृद्ध शाली बनाया है। वैयक्तिक निबन्धों का लेखक अपनी व्यापक अनुभूति के आधार पर समाज का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। इस विषय के लेखक की अनुभूति जितनी गहरी होती है, निबन्ध उतने ही प्रभावोत्पादक होते हैं। प्रस्तुत निबन्ध संग्रह के निबन्ध दो खण्डों में विभक्त हैं—प्रथम और द्वितीय। प्रथम खण्ड में ११ निबन्ध और द्वितीय खण्ड में १० निबन्ध हैं। प्रथम खण्ड के प्रथम निबन्ध में मुझे कुछ कहना है' शीर्षक में ही लेखक ने अपने उद्देश्य की ओर संकेत कर दिया है। मवाल बनाम सिगरेट' में यहां इस ओर संकेत किया है कि आज के नवीन जीवन में रोजी रोटी रखने तक अधिकार एवं अबाध भोगेच्छा की तृप्ति की ही प्रधानता है, जिससे संस्कृति, धर्म ज्ञान और कला के सम्बन्ध में किसी को भी विचार करने की आवश्यकता नहीं। समाज के विकार रूपी रोगों का चिकित्सा, कला साहित्य और संस्कृति में है। जीवन की नीरस घड़ियों में रस का संचार इन्हीं के द्वारा हो सकता है। चिन्तनशील लेखक ने बड़े ही सुन्दर ढंग से स्वस्थ प्रेम कला और संस्कृति के ऊपर प्रकाश डाला है। लेखक ने 'माला यो फेरिये' शीर्षक में लिखा है—"समाज के बीच रहते हुए सुखपूर्वक बढ़ने के लिए शायद यह आवश्यकता पड़ती कि आप अपने विचारों में पूरी और समाज के बीच व्यवहारों में आंशिक, केवल उतनी स्वच्छन्दता का प्रयोग करें जितने से आपके सुख में बाधा न पड़े। व्यवहारों में जिस स्वच्छन्दता के बरतने से समाज को और आपको असहनीय चोट लगे उसका न बरतना ही बुद्धिमानी भी जान पड़ती है।"

'विचारों में पूर्ण स्वतन्त्रता और कर्मों में समाज द्वारा नियन्त्रित—कुछ इसी आशय का किसी बड़े व्यवस्थाकार का भी कहना है।

इससे स्पष्ट है कि लेखक ने समाज निर्माण के लिए अपने चिन्तनपूर्ण इन निबन्धों द्वारा स्वस्थ और सबल मौलिक सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। इन निबन्धों से व्यक्ति और समाज दोनों ही जीवन कला का पाठ सीख सकते हैं। जीवनोत्थान की पर्याप्त सामग्री इनमें वर्तमान है।

गीत संगम [सन १९४९ से सन १९५५ तक के कतिपय गीतों का संग्रह]—रचयिता श्री रत्नसूरिदेव मिलने का पता लता प्रकाशन पन्ना ३।

श्री रत्नजी विचारक विद्वान् और कवि हैं। संस्कृत प्राकृत, पाली आदि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन और परिशीलन भी आपने किया है। यही कारण है कि इस संग्रह के सभी गीतों की भाषा ललित और प्राञ्जल है। इस संग्रह के सभी गीत तीन भागों में विभक्त हैं—आशा कामना

और वेदना। सभी गीतों में स्वाभाविक गीत धारा का अक्षुण्ण प्रवाह है, ये सौन्दर्य ज्ञान में मानव के अन्तस् को डुबा देने की पूर्ण क्षमता रखते हैं। इनमें संगीत का अनुबन्ध है, पर इसने भावात्मकता में वृद्धि ही हुई है। गीतों में मार्मिकता और स्नेहसिक्त रसधारा इतनी अधिक गहरी और शीतल है, जिससे उनके पावन गौरव का मना हुआ प्रभाव मानवीय वृत्ति पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यद्यपि इन गीतों में वैयक्तिक सुख, दुःख, हर्ष, शोक, राग, द्वेष एवं हास अश्रु विद्यमान हैं, तो भी कवि ने अपनी भावनाओं को विश्वजनीन बनाने के लिए पूरा प्रयास किया है। आत्मचेतना की जागृति एवं लयपूर्ण भाषा में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति सर्वत्र वर्तमान है। निम्न पंक्तियों में कल्पना के साथ रागतत्त्व का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

ऊषा की नीलम शय्या पर—
बिखरे हैं जावक-अरुण राग
धरती के श्यामल अञ्चल पर—
झर रहे रश्मियों के पराग,

आगे ५६ संख्यक गीत में कल्पना, विचार और भावना की त्रिवेणी में निमज्जन करता हुआ कवि क्लान्त एवं त्रस्त विश्व में विश्वास व्यापकता शान्ति का मार्ग ढूढ रहा है। अतः जगत् के राग विरागों के गंगायमुनी संगम पर खड़ा होकर कहता है—

विश्व खोजता चलता हूँ।
पता नहीं, मुझको जग छलता या मैं ही जग को छलता हूँ?
तिमिर-पथ पर भटक रहा है
शूलित-कीलित-सा नवयौवन,
आतप-म्लान मृदुल किसलयसा
सूख रहा भावों का उपवन,
पता नहीं, मुझ से जग जलता या मैं ही जग से जलता हू ?

इस प्रकार इस संग्रह के सभी गीत सरस और सुन्दर हैं, वैयक्तिक अनुभूति में सामाजीकरण है। हम नवयुवक कवि की उन्नति की कामना करते हैं और साथ ही उनसे अनुरोध करते हैं कि उनकी अन्य रचना हमें शीघ्र ही पढ़ने को प्राप्त होगी। इस सरस रचना का पाठकों को रसास्वादन करना चाहिए। गेट-अप, जिल्द, छपाई आदि नयनभिराम हैं।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XXI JUNE 1955 No I

Edited by

Prof A N Upadhya M A, D Litt
Prof Jyoti Prasad Jain, M A LL B
Sri Kamta Prasad Jain, M R A S D L
Pt K Bhujbali Shastri, Vidyabhushan
Pt Nemi Chandra Shastri Jyotisacharya

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Inland Rs 3 Single Copy Rs 1/8

CONTENTS.





ॐ

JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलङ्कदेव]

Vol XXI No 1 — ARRAH (INDIA) — JUNE 1955

JIVAKA CHINTĀMANI

Muktialambakam—Chapter on Liberation

By

Prof A Chakravarti M A IES (Rtd)

Section I—Vijaya Devi s Renunciation

The facts narrated below relate to the period of Jivaka s reign He conquerred all his enemies and regained the Kingdom lost by his father Once again he established peace and propserity By his generosity he spent his wealth liberally for the welfare and happi ness of his subjects To satisfy the desire of his Queen Mother, he

---

[The Jivaka Chintāmani is the foremost of the five Mahākāvyas and is undoubtedly the greatest existing Tamil literary monument It remains unrivalled in Tamil liter ture for its grandeur of conception elegance of literary diction and beauty of description of nature Professor A Chakravarti is well known for his devoted studies in Tamil literature and his excellent monograph Jaina Liter ture in Tamil was published through the pages of the Jaina Antiquary It is very good of him that he is giving to us an exhaus tive Summary of the Chapter on Liber tion from the Jivaka Chintāmani The Tamil classic has its ideolog cal and cultural characteristics and it deserves to be tud ed in comparison with similar classic de ling with the life of Jivaka in San krit Kannada and other languages For such a study Professor Chakravarti s resume is of great value Editor]

raised a huge and grand temple near an Aśoka tree for the Omniscient Lord who destroyed the 8 kinds of Karma and who realised the 8 divine qualities A village surrounded by fertile paddy fields was set apart as a gift to the temple for the performance of daily pūjā and celebrating the annual festival for the Omniscient Lord In memory of all those who protected and helped Jivaka from the day of his birth upto his victory, the Queen Mother dedicated all the happy results of these good deeds to them, because these great souls will not accept any material reward as a mark of her gratitude. When she landed near the cremation ground and gave birth to a child, the goddess of the place, took care of her and after delivery, carefully led her to Āśrama of Tāpasis In grateful remembarance of this goddess, she had another temple raised at that place in the name of the goddess The peacock vehicle in which she escaped from the Capital and which safely brought her down to land, she did not forget She had a portrait of that always in her chamber The child Jīvaka was brought up by great merchant Kandukadan who secured as companions for his adopted child 504 children The Queen Mother arranged with her brother Govinda to feed 505 children every day with the pure cow's milk and also to feed them with rich food It was only then that the Queen Mother got rid of her anxiety and care

Sunandā, the adopted mother of Jivaka, one day approached the Queen Mother She was embraced with joy by Queen Mother and was praised for the service rendered to Kuru dynasty for saving and nursing the child Jivaka. Then she called the 8 queens of Jīvaka with great affection and told them as if communicating a secret as follows —"You, 8 queens, represent the 8 garlands over the crown of the State which I saw in my dream May God bless you with children May you all have unswearving faith in the Lord."

After meeting her 8 daughters in-law, she called her son, the King, to come near her The King approached her humbly, worshipped the Queen Mother with the flowers and bowed before her touching her feet with the crowned head After respectfully hailing his mother, he was asked to sit by herself The Royal Mother addressed her son as follows .—

"You must have heard from others all that had happ n d to your father Now My D ar Worshipful Jivaka I will t ll you all that has happened to the great King, your father Please listen to me The King who was enjoying the royal prosperity was unfortunately clouded by lust and sensual pleasur s like the beautiful moon at the time of eclipse So he became a slave to sensual pl asures H did not care about the disrespectful remarks of his p ople H would not accept the wise advice of his learned Ministers He spent his life like a mad elephant beyond the control of its Mahout His Ministers realising that their presenc would be of no use left their services Ju t as the sea breaks the protective embankments and submerges the coastal city all the protective advice rendered by his Ministers was of no use to protect the king from being drowned in th mere sensual pleasures He forgot all his kingly duties All his friends and relations went away in disgust leaving him alone This helpless situation is but the result of his own conduct You plant a castor seed but you cannot expect a hard and weighty 'Acha tree to grow out of that seed Realising the helplessness of the King, the treacherous Army Commander, Kattiyangaran, to whom he delegated all his powers, undermined the King s sovereignty and usurped all the powers to himself The king realised too late the dangerous situation In order to save the unborn prince—yourself—he put me on the peacock vehicle and bade me to quit safely After my escape, the King unprotected, faced the situation and became a victim in the hands of the treacherous commander This tragic end is but the result of the King's own conduct When you sow evil seeds you cannot harvest good Oh! My Son, the ruler I narrate all these to you so that you must beware of sensual pleasures How the time is ripe for me to renounce the world and spend my time in a holy monastery Hearing these sad words of his mother, the king was shocked and swooned At once his queens and the women servants of the Royal Household sprinkled rose water on his face and gently fanned him Then he got up as if waking from his sleep and asked the Queen Mother to communicate her message to him Then she addressed him in the following words

"We are all deeply immersed in the desire to live We never know the exact period of life that we are likely to have from birth

to the end But at the end when death overtakes us, we feel helpless to save our life from the jaws of Death At that time, the only thing left to us is to feel sorry for uselessly wasting our life. We cannot get back all those wasted days with the hope of spiritual regeneration That is impossible for us Death will necessarily swallow us as the glutton swallows rich food The end is certain In spite of such a life, marked by birth and inevitable end, we are fortunate enough to be born as men in happy circumstances Born in such a happy environment, you must take advantage of the situation and sincerely make effort for your spiritual development by walking the path of righteousness Instead of walking this path of righteousness, if we live immersed with the pleasure in the midst of wife and children, we are sure to be frustrated Persons who are brought together by the tie of family affection will all get dispersed at the critical moment, just like rain drops get dispersed by strong wind Hence, I advise you not to become a slave of environment The way of desire for sensual pleasure, family affection etc — all these things prevent your spiritual development Hence, I advise you not to show affection for your dear ones because such an affection is an impediment to spiritual development. Take courage to forget that I am your Mother and let me have freedom to adopt my own way of ascetic life"•

Again the Queen Mother addressed the following words on the importance of virtue "Instead of being intoxicated with sensual pleasures in the company of beautiful maiden utterly blind to the value of virtue before old age overtakes you, my dear friends, attend to Tapas and Dharma—penance and piety. Body is but an abode of painful diseases It serves as a delicious food for death Before the body loses its health and becomes decrepit, try to share your food with the needy and cultivate noble qualities achievable through the instrument of human body After all, body is but a cart and man is its driver Life in the body is the axle of the cart. If by long and constant use, the cart becomes worn out and dilapidated, there is no possibility of reconditioning it by introducing a new life, a fresh axle But body gets abandoned finally as useless In some cases, the body, instead of lasting till the end of the date of the age, may get destroyed even earlier by getting struck in the stream of

sorrow and misery Hence before this cart becomes us less by losing its axle of life, man must achieve all the benefits derivable from that body Therefore, my friends, try to achieve maximum moral benefit as your fare in driving the cart Ordinarily, men are ruled by desire They do not try to achieve moral greatness They do not know the exact nature of Dharma They slavishly pursue this desire for pleasure Realise that this object of desire is quite worthless Hence, desist pursuing such worthless desires We see in this world persons living in great prosperity reluctantly eating their rich food offered in golden plate by their beloved wife The very sam person as a result of adversity may lose all his wealth and may go about begging for food carrying a mud plate in his hand My dear friends realise that wealth is nothing Direct your attention on spiritual discipline For that is the only thing worthy of achieving Again, we see in this world even the queen in the royal household who was accustomed to drink milk in a golden cup, may lose all her royal glory as a result of evil destiny Filled by poverty and hunger she may go from door to door begging for food Such is the nature of the world Hence, never desire wealth my friends Pursue righteousness We see in this world such poverty and misery A woman may have only small rag scarcely fit to cover her nakedness Thus covering her nakedness with one hand and the rag she may lift her other hand to pluck a few leaves for cooking She may cry out in that situation cursing her destiny that has led her to this shameful misery My dear friends after witnessing such things in life, never approach wealth Devote yourself to Tapas and spiritual discipline Even a young man with beautiful and well built body which will be a source of joy for the young women to look at, may become old and bent in body and may require a support of a stick to stand aright Thus you realise that youth is but a ephemeral event in life" All this moral advice the Queen Mother, addressed for the benefit of her son Jivaka

Carefully listening to these words of the Queen Mother, Sunandā took the advice as also applicable to herself She turns to Jivaka and addresses him as follows —"Oh I noble King, Queen Mother's decision to renounce the world may be considered either good or bad But I entirely accept that decision I have also decided to

follow her ' Hearing these words of Sunandā, Jīvaka stood speechless not knowing what to say Thus, leaving Jīvaka behind, both the mothers left the place for the monastery The other ladies at the royal household stood there helplessly shedding tears The City began to cry in grief The people in the City did not cry so much even on that day when the Queen escaped from the City on her peacock machine The noise of crying was similar to the roar of sea during cyclone The Queen Mother's palankin was followed by 1,000 others carrying 1,000 other women also who followed the Queen Mother All of them reached the holy Āśrama precided over by Pomma, the Mother Superior of the sacred Āsrama

The Queen Mother surrounded by 1,000 followers got down and entered the holy Āśrama and bowed before the chief ascetic Pomma and begged her to admit herself and all as her followers into her Āśrama and to guide them to cross the ocean of Saṃsāra. At this request from the Queen Mother, the Chief of the Āsrama replied thus. 'Spiritual discipline through ascetism is an extremely difficult experience But leading a life according to the path of righteousness without undertaking ascetism will make life in this world happy and praiseworthy and may also result in deriving happiness in Svarga hereafter Hence you ladies, desist from asceticism " At this word of warning, the Queen Mother replied "Oh! Holy Mother. We will listen to your preaching of Dharma later on Please initiate us now in the ascetic life " At this importunate request, the female ascetics in the Āśrama began to make all the necessary arrangements for the ceremony of initiation The place was decorated with flowers and leaves Lights were lit The seat was beautifully decorated The Queen Mother's feet were washed with milk Her royal dress of silken stuff was all removed The white cotton cloth was tied round her breast According to the rules of spiritual discipline, other ladies had also undergone the same ceremony Their ornaments and garlands were all removed Ordinary cotton cloth was tied round their breast Then the Queen Mother and Sunandā and all the other ladies who followed them were seated facing east Then all their beautiful dresses were cut by the female ascetics of the Āśrama and were taken away in plate from the place After the ceremony, all the ladies appeared like peacocks which shed their feathers. Thus

living in the Āsrama the ladies adopted their ascetic life They had found faith in the sacred scripture revealed by the Lord Omniscient They were all seriously engaged in spiritual discipline They filled their souls with spiritual qualities Their body made of bones and flesh when filled with many spiritual qualities resembled a golden pot filled with jewels and precious stones

The noble ascetics remained in the Āśrama quite indifferent to the world outside Neither the praise nor the blame from the people around had any reaction in them They were deeply interested in the study of the scripture They were not subject to any doubt or delusion Their faith in the world revealed by the Lord was shining like a beacon light before the whole world One day the King followed by his queens went to the Āsrama all carrying flowers of worship There they worshipped at the feet of the Queen Mother pouring flowers at her feet Then he addressed as follows —

'Oh Holy Mother! In the days gone by, I had not the good fortune to live with you Now after the victory, I hoped to be with you in the palace But you have renounced the world and the royal environment I beg to make one request Be pleased to stay in the City so that I may have the pleasure of visiting you often The holy ascetic the Royal Mother made no reply to this request She remained silent like a statue Then, Pomma the Mother Superior of the Āsrama intervened and replied as follows 'The good lady remained silent without replying in order to make you realise that the old domestic relation will not hold good any more You may forget and give up the feeling of the old relationship Hearing these words of explanation, the King together with his queens began to sob in grief Then the King spoke as follows Oh Sacred Mother I do not want to claim and re-establish the old filial affection and be frequenting Āśrama My sole desire to visit the Āsrama is to see and realise the courage of the noble ascetics who are devoted to Lord and who carry out the spiritual discipline enjoined in the holy scripture"

Hearing these words from the King all the female ascetics of the Āsrama were moved by sympathy and begged the ascetic Queen Mother to utter a word of comfort assuring her that such a kind

reply would not in any way interfere with her faith and devotion to the spiritual discipline At this request of the female ascetics of the Āśrama, the Queen Mother turned to the King and spoke as follows · "The very object that you mention as yours to perceive those that follow the holy Dharma in directing the people to walk the path of salvation, is identically the same object to realise which we renounce the world and join the holy Āśrama" At this the king spoke as follows 'Holy Ascetic, you took no trouble to bring me up as your son Now your renouncing me and the world is but proper." Then turning to Sunandā, he said "Since you took trouble to bring me up, you are my real mother. Up to now you have not done anything to cause me pain. Now you renounce the world and me You have been cruel to me, you cruel and heartless lady"

Thus, he expressed his grief before her like a wounded cub struggling in pain before his mother Then Sunandā spoke as follows "Let the past be forgotton Having lost my husband, I remained with you without grumbling For this the world blamed me that instead of mourning my lost husband, I remained in royal glory living in your palace Now when the royal Mother spurned as trifle the wealth and prosperity of the royal household and entered as an ascetic in the Āśrama if I remained in the palace enjoying the prosperity of royal household, the world will curse still more Do you really want me to be an object of blame and ridicule ?". With these words, she conforted the king and asked him to go back to the palace and attend to State duties Then the Ascetic Queen Mother addressed the Nandattan Sunandā's son, in the following words: "Do not feel pain at heart because we renounced the world and entered the Ascetic Āśrama We will never forget you We wish you a happy future" They were happy hearing these words

Thereafter, he praised the ascetics consistent with their stay in the holy Aśrama, left the Aśrama and went back to the palace His queens then took leave of their mothers-in-law and followed the king and entered the royal palace. Thereafter, the noble Queen of the late King Sachchandan with beauty well known to the whole world considered the happiness of the world as merely a bubble, renounced the world, gave up all desires for wordly things and strictly walking